सूर की झाँकी

लेखक
सत्येन्द्र

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी लि०
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
आगरा

प्रकाशक
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी लि०
हस्पताल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण १९५६
मूल्य ६)

मुद्रक
एन० ई० सैमुएल (सुप्रिंटेंडेंट)
ओरफन प्रेस, दी कैंथीड्रल
आगरा

सूर के प्रेमियों को सादर भेंट

०

सूर की झाँकी

भूमिका

सूरदास हिन्दी के महान कवि हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि सूरदास पर अब अच्छा अध्ययन होने लगा है। फिर भी अभी इस कवि के समग्र अध्ययन के लिए और भी अधिक प्रयत्न की अपेक्षा है। 'सूर की झाँकी' में एक ऐसा ही प्रयत्न है।

लेखक ने समय समय पर सूर की झाँकी पाने के विविध प्रयत्न किये थे—वे समय-समय पर प्रकाशित भी होते रहे। वे 'साहित्य की झाँकी' और 'कला-कल्पना तथा साहित्य' जैसे संग्रहों में भी सम्मिलित किये गये। पर बिखरे होने के कारण सूर के पाठकों और सूर को समझने की चेष्टा करने वालों को असुविधा ही रही। लेखक ने स्वयं भी इस असुविधा का अनुभव किया। उसे दूर करने के लिए ही सूर की झाँकी पाने में सहायक सभी निबंध, रेडियो भाषण आदि इस पुस्तक में एक क्रम से दे दिये गये हैं।

इस पुस्तक को तीन खंडों में करके पढ़ा जा सकता है—

पहला खंड—सूर-काव्य की पृष्ठभूमि निबंध १ से १० तक
दूसरा खंड—सूर का जीवन निबंध ११ से १२ तक
तीसरा खंड—सूर की कृतियाँ और कला निबंध १३ से २५ तक

दूसरे खंड में एक निबन्ध का शीर्षक है, सूर के 'जीवन पर प्राप्त सामग्री का सार'। पहले यह विचार था कि इसमें समस्त सामग्री का ही सार देदिया जाय। पर लेखक 'वार्ता-साहित्य' के अतिरिक्त अन्य सामग्री को महत्वपूर्ण नहीं समझता अत: अन्तत केवल वार्ताओं का ही सार दिया गया।

हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

पृथ्वीराज रासा के ऐतिहासिक आधार में काल्पनिक कहानियों का कहीं-कहीं रंग भरा गया है।[1] ऐसा उस वीर-वर्णन और युद्ध कथा को कुछ अधिक साहित्यिक सुन्दर और रोचक बनाने के लिए किया गया है। ये कहानियाँ जैसे पद्मावती के विवाह की कवि की अपनी कल्पना प्रतीत नहीं होतीं। ऐसी कथाएँ कहानी के रूप में साधारण जन-समुदाय में प्रचलित थीं।[2]

भारत कहानियों का जन्म-स्थान है।[3] यहीं से कहानियों की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बैठे हुए अगिहानो पर तापते हुए, जीवन-यात्रा से श्रान्त वृद्ध अपने लोच भरे लहजे में जीवन क्षेत्र के नये पटवारों को राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ सुनाया करते थे। चन्द बरदायी की पद्मावती की कहानी का ढांचा कहीं यहीं से लिया गया होगा।[4]

---

[1] टाड ने माना था कि पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस मत का विरोध हुआ, यहां तक कि कुछ लोग इसे बिल्कुल काल्पनिक और १६वीं १७वीं सदी का मानने लगे। इधर फिर यह माना जाने लगा है कि पृथ्वीराज रासो एक कथा-काव्य है और इसमें इतिहास प्रधान नहीं। उस युग में कथा-काव्य के जो लक्षण स्वीकृत थे उन्हीं के अनुसार पृथ्वीराज रासो सम्भवतः पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया। आज के इस निष्कर्ष से हमारा पहला अनुमान पुष्ट ही होता है।

[2] 'पद्मावती' की कहानी प्रसिद्ध लोक-कहानी है। कथा सरित्सागर में भी एक पद्मावती की कहानी है। [दे० कथा सरित्सागर १७ वाँ लम्बक]

[3] India's Past—"This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature.

[4] हमारा अनुमान है कि कथा-सरित्सागर में लोक कहानियाँ ही एक सूत्र में

हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक आधार में काल्पनिक कहानियों का कहीं-कहीं रंग भरा गया है।[1] ऐसा उस वीर-वर्णन और युद्ध कथा को कुछ अधिक साहित्यिक सुन्दर और रोचक बनाने के लिए किया गया है। ये कहानियाँ जैसे पद्मावती के विवाह की कवि की अपनी कल्पना प्रसूत नहीं होतीं। ऐसी कथाएँ कहानी के रूप में साधारण जन-समुदाय में प्रचलित थीं।[2]

भारत कहानियों का जन्म-स्थान है।[3] यहीं से कहानियों की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बैठे हुए, अंगिठानों पर तापते हुए जीवन-यात्रा से श्रान्त वृद्ध अपने लोच भरे लहजे में जीवन क्षेत्र के नये पटेवाजों को राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ सुनाया करते थे। चन्द बरदायी की पद्मावती की कहानी का ढाँचा कहीं यहीं से लिया गया होगा।[4]

---

[1] उस समय तक माना जाता था कि पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस मत का विरोध हुआ यहाँ तक कि कुछ लोग इसे बिल्कुल काल्पनिक और १६वीं १७वीं सदी का मानने लगे। इधर फिर यह माना जाने लगा है कि पृथ्वीराज रासो एक कथा-काव्य है और इसमें इतिहास प्रधान नहीं। उस युग में कथा-काव्य के जो लक्षण स्वीकृत थे उन्हीं के अनुसार पृथ्वीराज रासो सम्भवतः पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया। आज के इस निष्कर्ष से हमारा पहला अनुमान पुष्ट ही होता है।

[2] 'पद्मावती' की कहानी प्रसिद्ध लोक-कहानी है। कथा सरित्सागर में भी एक पद्मावती की कहानी है। [दे. कथा सरित्सागर १७ वाँ तरंग]

[3] India's Past— 'This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature.

[4] हमारा अनुमान है कि कथा-सरित्सागर में लोक कहानियाँ ही एक सूत्र में

रासो के इस भाग में कुछ ध्यान देने योग्य बातें हैं।

पद्मावती पृथ्वीराज को चाहती है। पृथ्वीराज के पास तोते के द्वारा सूचना भेजती है। पृथ्वीराज सेना सजाकर पद्मावती से विवाह करने जाता है। विवाह हो जाता है।

इसमें दो बातें मूलतः मिलती हैं। एक स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम, दूसरे एक पक्षी का दूत की भाँति सन्देशवाहक बनना।

प्रेम-मार्ग के काव्य में भी हमें यह ढांचा दीख पड़ता है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती रत्नसेन को चाहने लगती है। हीरामन तोता उन दोनों के मिलन का साधन है। रत्नसेन घरबार सिंहल छोड़कर अनेक कष्ट झेलता हुआ पहुँचता है। अन्ततः पद्मावती से विवाह कर घर लौट आता है।

जिस प्रेरणा ने पृथ्वीराज रासो में, चन्दबरदायी को पद्मावती की कहानी उस युद्ध के युग में लिखने को तत्पर किया वह जायसी के समय १५१७ तक पूर्ण परिपक्व हो गयी। यह नहीं कहा जा सकता कि रासो में चन्द बरदायी की प्रतिभा से उत्पन्न कृति के ही अनुकरण से अथवा उसी से बीज पाकर प्रेम मार्ग प्रस्फुटित हुआ क्योंकि प्रेम-मार्गी कहानियों के स्वभाव में और भी कितनी ही विशेषताएँ मिलती हैं जो रासो की कहानी में नहीं, फिर भी इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि लौकिकता

पिरोयी गयी हैं। कथा-सरित्सागर में रचना के कारण का गुणाढ्य विषयक जो कथानक दिया गया है, उससे भी यही सिद्ध होता है—इसमें शिवजी मूल वक्ता हैं। वररुचि दूसरा, सिताब तीसरा और चौथा गुणाढ्य जिसने इस मौखिक परम्परा को लिख डाला। वस्तुतः गुणाढ्य लोक-कथाओं का आरम्भिक संकलनकर्ता था। बृहत्कथा का संस्कृत नाटक-कथा आदि में स्रोत की भाँति बड़ा महत्व है।

गुणाढ्य का महत्व सभी प्रमुख कथाकारों तथा शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। भास ने कथा के स्वरूप बृहत्कथा के आधार पर लिखे हैं। उसी ही दृष्टि में रख कर दण्डी ने काव्यादर्श में कथा पर विचार प्रस्तुत किये हैं। सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में वाल्मीकि तथा व्यास के साथ गुणाढ्य को बिठाया है। बाण ने कादंबरी तथा हर्षचरित में इस महापुरुष का आदर स्मरण किया है। धनपाल ने तो यह स्पष्ट ही लिखा है कि कथा-सरित्सागर से ही संस्कृत की अन्य कथाएँ ली गयी हैं। राजतरंगिणी में रचयिता ने रामायण तथा महाभारत के साथ बृहत्कथा के रचयिता को भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और कहा है कि ऐसा कौन है जो यह

की यह क्षीण धारा बहुत पहले से चली आ रही थी।[1] रासो में वह अनायास ही कुछ उभर पड़ी। परन्तु राजनीतिक वातावरण की कुछ शांतिमय व्यवस्था होते ही तीन या चार शताब्दियों बाद वही धारा बड़े वेग से प्रवाहित होकर साहित्य-क्षेत्र को सींचने लगी।

कहीं कहेगा कि गुणाढ्य के रूप में स्वयं व्यासजी ही पृथ्वी पर पुनरवतीर्ण हुए हैं। धनंजय ने 'दशरूपक' नामक अपने नाट्य शास्त्र में स्पष्ट बताया है कि नाटककारों के लिए कथा-वस्तु के दो प्रमुख स्रोत हैं, जिनमें प्रथम स्थान रामायण का है, दूसरा बृहत्कथा का। धनिक ने भी दशरूपक पर अवलोक लिखते हुए इसकी पुष्टि की है। बौद्ध और जैन कथाओं पर भी बृहत्कथा का प्रभाव स्पष्ट है। [देखिये Essay on Gunadhya and the Brahatkatha by Falix Lacote]

[1] साहित्य की इस लोक-धारा को बृहत्कथा से ही आरंभ हुआ मान सकते हैं क्योंकि इससे पूर्व के किसी ऐसे कथा-संग्रह का पता नहीं चलता। नवीं तथा दसवीं शताब्दी तक यह ग्रंथ प्रसिद्ध हो चुका था। अनेक नाटककार, गद्यग्रन्थ रचयिता और कथा काव्य रचयिता इसके ऋणी थे। ८७५ ई० के कम्बोडिया के एक संस्कृत शिलालेख में भी गुणाढ्य और बृहत्कथा का उल्लेख है। बाद की शताब्दियों में कथा साहित्य रचने की एक विशेष प्रथा ही प्रचलित हो गयी। कथाओं की यह परंपरा कुछ इस प्रकार मानी जा सकती है—

बृहत्कथा—गुणाढ्य
भविसयत्त कहा
नेमिनाह चरिउ
संदेशरासक
सामिचरित्र
भंवरंमरसंधि
चोरंगसंधि
कुसुमाख्यान
मयणरेहासंधि
नमयासुंदरिसंधि
पउमसिरीचरिउ
सिद्धचक्कस्स माहप्प
हरिवंशपुराण
जसहरचरिउ

प्रेम-मार्ग के काव्यों में केवल राजा रानी के प्रेम का ही वर्णन नहीं—इसकी कुछ और भी विशेषताएँ हैं।[1]

जिस युग में प्रेम गाथाओं का आरम्भ हुआ वह धार्मिक पुनरुत्थान[2] का युग था। भारतवर्ष में पश्चिम की एक नयी और जोशीली संस्कृति अपने पैर जमा चुकी थी। मुसलमानी सभ्यता

नागकुमारचरित
करकण्डुचरित
कुवलयमाला कथा (८वीं शती)
वासवदत्ता (सुबन्धु)
कादम्बरी (बाण)
बृहत्कथा श्लोक संग्रह
बृहत्कथा मंजरी
कथासरित्सागर
लीलावती (सन ८ से कुछ पूर्व के कौतूहल कवि द्वारा लिखित)
ढोला-मारू
कीर्तिलता
कीर्तिपताका

[1] कहा मुहम्मद प्रेम-कहानी।
सुनि सो ज्ञानी भये धियानी। [जायसी ग्रं पृ १०६ (का०ना प्र)]
प्रेम-पंथ जो पहुँचै पारा।
बहुरि न मिलै आइ एहि छारा। [वही, पृ० ७]

[2] भारत में कई धर्म-पुनरुत्थान की स्थितियाँ मिलती हैं। इस धार्मिक पुनरुत्थान की एक सूचना तो हमें गीता में कृष्ण की प्रतिज्ञा के द्वारा मिलती है—"यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्" इस उक्ति के प्रकाश में तो जितने अवतार उतने ही धार्मिक पुनरुत्थान के अवसर, फिर भी स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि से हम निम्न अभ्युत्थानों को मान सकते हैं।—

प्रथम—वैदिक	लगभग ५-६ हजार ई० पू०
दूसरा—बौद्ध व जैन	छठी शती ई० पू०
तीसरा—भागवत	दूसरी शती ई० पू०
चौथा—वैष्णव	ग्यारहवीं ई०
पाँचवा—वैदिक	उन्नीसवीं शती ई०

को आये कई शताब्दियाँ हो गयी थीं—वे अब भारत-सतान थे वे अब अरब के निवासी नहीं रहे थे। परन्तु उनके और हिन्दुओं के मत में संघर्ष बराबर जारी था। वह दोनों में भीषण शत्रुता पैदा कर रहा था। एक के हृदय में दूसरे के लिए किंचित प्रेम नहीं था। ये दोनों कब आपस में प्रेम करना सीखेंगे ? यह प्रश्न अनेक सहृदयों के मन में उस समय उठता था।[1]

दोनों में शत्रुता का मूल कारण था धार्मिक-विरोध। मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व भी अन्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किये थे वे यहाँ आयीं और भारत की हो गयीं। उनका कोई अलग मत न था। वे यहाँ हिलमिल गयीं। परन्तु मुसलमानों ने केवल राज्य-लोभ धन-लोभ अथवा अन्य किसी पदार्थ सम्बन्धी लोभ मात्र से ही आक्रमण नहीं किये थे। धार्मिक परिणति करना और अपने सत्य धर्म का प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय था। उनका सारा उत्साह धर्म-मय था। इधर हिन्दुओं में उत्साह शिथिल भले ही रहा हो परन्तु धर्म उनकी सभ्यता और संस्कृति के साथ रक्त में मिल गया था। उनके समाज के शरीर के ढाँचे की हड्डियाँ धर्म की बनी हुई थीं—इससे दोनों में घोर विरोध था। इसे सज्ञान मनुष्य भी देख रहे थे सहृदय मनुष्य भी देख रहे थे

सज्ञान मनुष्यों के तर्क को इस समय की स्थिति असहनीय थी। सभी एक ईश्वर के पुत्र हैं[2] फिर एक दूसरे का गला क्यों काटा जाय ? मन्दिर-मसजिद के नाम पर झगड़ा होता है। ईश्वर की सर्व व्यापकता में बट्टा लगाने वाले ये गृह न होते तो अच्छा था।[3] दोनों दलों का वैमनस्य मिट जाता। हिन्दू भी एक

---

[1] बिरिछ एक लागी दुइ डारा। एकहि तें नाना परकारा।
मातु के रकत पिता के बिन्दू। उपने दुवौ तुरक औ हिन्दू। [जायसी]

तथा

हिन्दु कहै मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहिमाना।
आपुस में दोउ लरि-लरि मूए, मर्म न काहू जाना॥
[कबीर-बीजक पृ० ११ कबीर ग्रन्थ प्रकाशन]

[2] जो हिन्दू औ तुरक कहाय एक जिमी पर रहिये।
बेगर बेगर नाम धराय, एक मटिया के माहि॥
['कबीर बीजक', पृ० ४०]

[3] जो खुदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा। ['कबीर बीजक' पृ० ६२]

ईश्वर मानते ही हैं मुसलमान भी मानते हैं। फिर झगड़ा क्यों हो ? ऐसे ही और भी अनेकों प्रश्न उठते थे।

एक ओर सहृदय वर्ग था वह भी दुखी होता था। अरे ! क्या इनके हृदय नहीं ! प्रेम का झकोरा सारे भेदों को बहा देगा यदि ये जान जायें कि प्रेम क्या है ? वह व्यापक प्रेम जो परम प्रेम का साधक है क्यों न इनको बतलाया जाय ?[1] अत ज्ञानियों ने अपना काम किया। उनका मार्ग ज्ञान-मार्ग कहलाया और सहृदयों का प्रेम-मार्ग।

इस राजनीतिक स्थिति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में कबीरदासजी से काव्य की ज्ञान-मार्गी धारा आरम्भ हुई। इस ज्ञान-मार्ग पर भक्ति का प्रभाव था।

कबीरदासजी ने जिस क्षेत्र में से अपने लिए सामग्री जुटायी थी उस क्षेत्र में भक्ति की सम्भावना हो चुकी थी। भारत में पूर्वपुनर्जागृति की उत्साह लहरें हिलकोरे ले उठी थीं। उनका ज्ञान-मार्ग उपनिषदों की कंकरिया की नीव पर खड़ा हुआ था।

वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में दवी शक्ति की प्रतिष्ठा की गयी। उन विविध प्रकृति की दैवी शक्तियों में उन्हें एक ब्रह्म की सत्ता दिखायी पड़ी। उस ब्रह्मसत्ता का विवेचन उपनिषदों में हुआ। उस समय 'ब्रह्म' नामक व्यापक शक्ति का नया संस्कार हुआ था। केन उपनिषद' में हमें स्पष्ट ही इस नवीनता की उद्भावना दिखलायी पड़ती है। उसमें विचित्र कथानक द्वारा ब्रह्म की अद्भुत सत्ता को समझाने का यत्न किया गया है। उस समय अपूर्व तेजवान ब्रह्म को देखकर इन्द्र, अग्नि वायु आदि वैदिक प्रकृति-देव आश्चर्य में पड़ गये थे। वे नहीं जानते थे कि यह नवोद्भासित शक्ति क्या है ? साहसपूर्वक उनमें से एक-एक बारी बारी से परिचय प्राप्त करने गया। इस कथा में यह स्पष्ट लिखा है कि प्रसिद्ध वैदिक देव उस अपूर्व तेजमय ब्रह्म से अनभिज्ञ थे। यह उनके लिए एक नई वस्तु थी। वह उन्हें आश्चर्य में डालने वाली

---

[1] कठिन प्रेम कै तपना भारी बाँधु सत्त मन डोल न भारी।
कोटि सिर मँहि होइ सत्त पहारू, परै पहार न बाँके बारू॥ [आखरावट]

तथा

बूँद समुद्र जैसे होइ मेरा। गा हेराइ अस मिलै न हेरा।
रंगहि पान मिला जस होई। आपहि खोइ रहा होइ सोई॥ [आखरावट]

थी अतः, उसका परिचय पाने की उन्हें उत्कण्ठा हुई। इस ब्रह्म को उपनिषदों ने खोजा।

उपनिषदों की शिक्षा के विधान में ब्रह्म को जानने की विद्या अत्यन्त गोपनीय और रहस्यपूर्ण समझी गयी है। जगत के विभिन्न व्यापारों में व्याप्त वह 'एक' रूपरेखा और नाम का विषय नहीं हो सकता। इसलिए वह स्थूल-बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है—वह सूक्ष्म-बुद्धि जो शुद्ध हो इस मायावी संसार के कलुष से दूषित न हो। यह सूक्ष्म-बुद्धि भी उसका पूरा ज्ञान नहीं पा सकती क्योंकि वह केवल ज्ञान का विषय नहीं। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। उसका अनुभव आनन्द विभोर करने वाला है। अतः सूक्ष्म-बुद्धि भी उस समय विमोहित हो जाती है वह अपने को भूल जाती है। पीछे कुछ अनुमान से कुछ उस आनन्द के संस्कारावशेष से वह सूक्ष्म-बुद्धि अपनी दशा का ज्ञान प्राप्त कर सकती है—उस 'एक' का ज्ञान फिर भी नहीं पा सकती। इसी कारण उपनिषदों में कहा गया है कि उसे 'न जानने वाला ही जानता है'। वह केवल अनुभव की वस्तु थी वह हृदय की वस्तु थी। वह शीघ्रता पूर्वक भक्ति से ही पायी जा सकती थी।

'एकत्व' में विसर्जित होने वाले धर्मों में भक्ति का समावेश अवश्य हो जाता है। 'एक' की ऐसी प्रधानता जो असंख्य मानवीय सत्ताओं को तुच्छ बनाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करे, बिना अपने निजी विशेष आकर्षण के नहीं हो सकती। यह आकर्षण हृदय को अभिभूत करता है। उसके सारे रस को निर्विवेक अपनी ओर खींच लेता है—और भक्ति को उत्तेजना देता है।

ईसाई मत में 'एक' की प्रधानता है उसमें भक्ति का प्राचुर्य है, बौद्ध धर्म में एक बुद्ध भगवान् की प्रतिष्ठा है। अतः वहाँ भक्ति की प्रधानता है। उपनिषदों में एक ब्रह्म की सत्ता का निरूपण किया गया, उसको प्राप्त करने के लिए गुरु से उपनिषद् (रहस्य) का ज्ञान पाना आवश्यक था अतः इसी काल से भक्ति का सूत्रपात हुआ।[1] उपनिषदें ईसा से कई शताब्दी पहले निर्मित

1 मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के आधार से अब विदित होता है कि वेदों से पूर्व ही भारत में एकेश्वरवाद प्रतिष्ठित था। मोहनजोदड़ो में शिव को ही परम सत्ता माना जाता था। इसी के साथ यह भी विदित होता है कि भक्ति का आरम्भ भी हो चुका था। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राओं में से एक पर शिव के

हो चुकी थी। उन्हीं में संकेत रूप में उपस्थित भक्ति महाभारत काल में विकसित हुई—इस अन्तिम अवस्था में अपनी भक्ति का रूप और प्रकृत कर लिया—उसे साकार कर दिया। यह साकारता उन्हें मोहनजोदड़ो की संस्कृति से ही मिली थी। इसे ग्रहण करके उसे विशेष वर्ग की भक्ति को साकारता के साथ पूर्णतः भारतीय बना दिया। वह अब आर्य-अनार्य सभी के लिए सामान्य रूप से मान्य हो गयी।

मुसलमानों के नये संस्कार की छाप ने पुराने संस्कारों के लिए तड़प पैदा कर दी। उनके एकेश्वरवाद से मुठभेड़ करने के लिए उपनिषदों के अद्वैत[1] की बड़ी उत्सुकता से पुकार मचायी गयी। व्यवहार का संकोच हटाया गया। वर्ण भेद की व्यवस्था का मूलोच्छेदन तो नहीं किया गया परन्तु शूद्रों के धार्मिक अधिकारों में उदारता से काम लिया गया। वे भी अब भगवान् से मुक्ति मांग सकते थे। नये धर्म के संघर्ष से रक्षा करने के लिए इस काल में उपनिषदों और महाकाव्यों के मार्ग पर भक्ति-मत का प्रचार किया गया। यह युग इसलिए भक्ति उन्मुख युग था। 'प्रेम मार्ग' के ग्रन्थ इस धर्म और भक्ति के प्रभाव से शून्य नहीं रह सकते थे। इस मार्ग ने साहित्य में 'लोक पक्ष' से रोचक प्रेम-कहानियों को लेकर धर्म और भक्ति का पुट मिलता है।

वीरगाथाओं में वीरत्व के ओज को प्रकट करने के लिए जिन जीवट और साहस सम्बन्धी भीषणताओं को रासो जैसे काव्यों में कवियों ने उपस्थित किया—उन्हीं के अवशेषों की भांति मानो प्रेम कहानियों में प्रेमी की कठिनाइयों की सृष्टि की गयी। मूल की

दोनों ओर ही महत्वों का अंकन हुआ है। केन उपनिषद् की जिस कथा का ऊपर उल्लेख हुआ है वह यह भी सिद्ध करती है कि आर्यों को यह महा ज्ञान सम्भवतः मोहन-जोदड़ो की सभ्यता से मिला क्योंकि जिस शक्ति ने आविर्भूत होकर उस रहस्यमय ब्रह्म का पता देवताओं को दिया उस शक्ति का नाम उमा हैमवती स्पष्ट किया गया है। यह उमा हैमवती पार्वती के अतिरिक्त और कौन हो सकती है। निश्चय इस अंकन से केन का ब्रह्म मोहनजोदड़ो का शिव ही सिद्ध होता है। यहीं से आर्यों ने भक्ति का भाव ग्रहण किया।

[1] यही कारण है कि इस पुनरुत्थान में सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मसूत्र को प्रमाण आधार माना और सभी में किसी न किसी रूप में अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी।

रणवोरता में कहानियों में प्रेम की वीरता का बाना पहन लिया। वीरता तो रही केवल उसका क्षेत्र और रूप बदल गया।

प्रेम-गाथाओं के लिखने वाले अधिकांश मुसलमान सूफी फकीर थे। इनका मत उदार था। अपना धर्म को सीधी-सच्ची तरह रखना वे जानते थे। किसी को बुरा भला कहना इन्हें पसन्द न था। हिन्दुओं के वेदान्त की तरह ये 'अल्लाह' को अद्वैत मानते थे। उसी के व्यापक प्रेम से सारे संसार को रँगा हुआ देखते थे और इन्हें विश्वास था कि इस प्रेम में जो रँग गया जिसने इस प्रेम को पा लिया वह दुःखी नहीं रह सकता। फिर उसे किसी से शिकायत नहीं रह जायगी। वह खुद राजा हो जायगा, दूसरों की शिकायतें सुनेगा—वह खुद शिकायतें क्या करेगा।[1] इसी प्रेम के भव्य सन्देश को मानव के उस विषम वातावरण में लाभप्रद समझकर लोगों की भाषा में और लोगों के ढङ्ग में उसको अपने घर की चीज बनाकर रखा गया। सचमुच सूफियों की प्रेम-गाथाओं को पढ़कर और उनके रहस्य का मनन करके हृदय कलुषित भावों से ऊपर उठ जाता है उस संसार में एक उष्णता और एक नवीन स्फूर्ति दिखायी पड़ती है। वह भेद भाव भूलने लगता है। सूफियों के ग्रन्थों ने प्रेम की आग लगायी। उनका यही काम था। उन्होंने 'लोक' को प्रेम के योग्य बना दिया वह प्रेम किससे किसके लिए? इन बातों का उत्तर देना उन्होंने उचित न समझा—यदि 'प्रेम की पीर' पैदा हो जाय तो बस! जायसी ने इसी भाव से लिखा—

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।

प्रेम-गाथाओं में सूफियों ने हृदयों में प्रेम की पीर पैठा दी। प्रेम से हृदय में एक अमृत वेदना पैदा कर दी। जन-समुदाय प्रेम में विकल हो गया—पर प्रेम किसको करें? प्रेम प्रेम के लिए, प्रेम निर्गुण के लिए! साधारण कोटि के मस्तिष्क के लिए ये सूक्ष्म तात्त्विक विश्वास अविश्वास से भी अधिक भारी थे। प्रेम में लगन की मात्रा है प्रेम हृदय का वस्तु है। हृदय की लगन निरूप निरस और निर्गुण में नहीं हो सकती। बिना गुण के वह शून्य-सा

[1] पुनि धनि प्रेम सुरा के पीए। मरन भियन डर रहै न हीए।
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा। की सो घूमि रह कि मतवारा॥
सरब दरब सब देइ बहाइ। जौ सब जाहु न चाहु नियाह।
एहितु जियत रहै रस-भीजा। लाभ न देख न देख छीजा॥

खाली-सा और भूला-सा रहता है इससे उसकी बेचैनी ही बढ़ सकती है, शांति का संदेश नहीं मिल सकता। उसमें अवश्य ही आसक्ति की मात्रा होती है, और उचित दिशा में प्रवाहित आसक्ति को बुरा नहीं कहा जा सकता। यह आसक्ति निराकार में जायसी के 'निरगुन' में नहीं हो सकती। लक्ष्य का विस्तार ऐसा संकुचित भी नहीं चाहिए कि निर्लक्ष्य हो जाय। बस किसी लक्ष्य की आवश्यकता थी।

प्रेम-मार्गियों ने मार्ग बना दिया अथवा मार्ग साफ कर दिया। वह मार्ग सिद्धांत से 'निरगुन' प्रेम का था अथवा किसी अनंत यात्री के लिए अनंत-यात्रा का मार्ग था पर फलतः साहित्य में उस मार्ग का सलक्ष्य कर दिया गया। उस मार्ग के सामने सान्त का रूप खड़ा कर दिया। यह सगुणोपासक भक्त कवियों ने किया।

पवित्र प्रेम की दिव्य विकलता में जब श्रद्धा और गुण का समावेश हो जाता है तो वही भक्ति हो जाती है। भक्ति में विश्वास है प्रेम की पराकाष्ठा है सगुण धारणा है श्रद्धा है और अपनत्व का लोप है। प्रेम में आसक्ति है विश्वास है अपनत्व का लोप है—ये गुण प्रेम-मार्ग में पैदा कर दिये। यही प्रेम-मार्ग आगे चलकर सगुण 'भक्ति' के रूप में परिणत हो गया। भक्ति-मार्ग ने प्रेम-मार्ग की शून्यता को भर दिया। उसने लक्ष्य के लिए वह रूप रखा था जो एक साथ संकुचित भी था और विस्तृत तथा व्यापक भी, एक साथ अनन्त भी था और सांत भी एक साथ व्यष्टि भी था और समष्टि भी एक साथ व्यक्त भी था और अव्यक्त भी एक साथ तार भी था और स्वर भी एक साथ कण्ठ भी था और लय भी एक साथ अगति भी था और गति भी, एक साथ सगुण भी था और निर्गुण भी।

यह समय बड़ो ही सुन्दर कलात्मक दार्शनिकता का था। सगुण भक्ति-मार्ग का धमभक्र इसमें कवियों ने अपनी अमर कला से अनन्त ब्रह्म का—उसके व्यापार विक्षेप को सविकार साकार खड़ा कर दिया। कम से कम अब ब्रह्म धोखा नहीं दे सकता। उसका सुन्दर स्वरूप हम अनुभव कर सकते हैं।

भक्ति-मार्ग के अवतीर्ण होने के मानसिक विकास का क्रम ऊपर बतलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्रेम और ज्ञान-मार्ग के पश्चात् सगुण भक्ति का आना अपने रूप में भी स्वाभाविक था। परन्तु इसमें वह स्वाभाविक मार्ग से नहीं आयी। उसके आने का इतिहास भिन्न है। वह उत्तर से नहीं दक्षिण से आरम्भ होता है।

– २ –

भक्ति का स्रोत

'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद'—इस युक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्रविड़ में हुआ। उक्ति-कर्ता सम्भवत नहीं जानता था कि वह इन शब्दों के द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्रविड़ से अभिप्राय सम्भवत दक्षिण देश से ही था किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है नयी प्राग्-ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध-सा होता है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में है और दक्षिण के द्रविड़ों में नहीं उनके महान् पूर्वज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ों में। अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य और प्रमाण प्राप्त हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा दस्यु एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था। उनके लेखों में स्पष्ट उल्लेख है कि शिव परमात्मा है यही विश्व का शास्ता है। वह अद्वैत है स्वयंभू है वह महत् है और देवों में देवोत्तम है। वह सर्वद्रष्टा और उदार-चेता है वह विश्व का कर्ता-भर्ता-हर्ता है।[1] एकेश्वरवाद भक्ति का प्रधान आश्रय है विशेषत तब जब कि उसे आकार मिल जाये। इस एकेश्वर शिव को इस युग में साकारता भी मिल गयी थी, जिसके कितने ही प्रमाण वहाँ मिले हैं। एक तो ऐसा मनोरम ठप्पा मिला है जिसमें शिव के दोनों ओर दो व्यक्ति बैठे हुए अंकित हैं। यह ठप्पा सिद्ध करता है कि इस युग के द्रविड़ भक्त थे—भक्ति का ऐसा मूल प्रमाण अन्यत्र प्राप्त नहीं। फलत आर्यों से पूर्व द्रविड़ों में भक्ति जन्म ग्रहण कर चुकी थी और प्रचलित हो चुकी थी।

आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था। यों तो ऋग्वेद के वरुण में भी वे समस्त तत्त्व दिखायी पड़ते हैं जो भक्ति

1 हेरस : 'रिलीजन आफ दी मोहनजोदड़ो पीपिल [illegible]'।

के बीज कहे जा सकते हैं। वरुण में भक्त के इष्ट होने योग्य समस्त गुण दिखायी पड़ते हैं। किन्तु वरुण की इस प्रतिष्ठा के युग में अन्य वैदिक देवताओं का भी समाज में सम्मान था, स्वयं वरुण का उल्लेख इंद्र और मित्र के साथ घनिष्ठ रूप में वेदों में किया गया है ऐसी स्थिति में भक्ति का बीज हो सकता है पर भक्ति का स्वरूप पुष्ट नहीं हो सकता। वेदों में विविध देवताओं के प्रति वैदिक ऋषियों की जिस मनोस्थिति का पता चलता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है वह भक्ति का स्रोत नहीं बन सकती। इस युक्ति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वरुण विषयक जिन भक्ति के तत्वों का आभास हमें ऋग्वेद में मिलता है, वह किसी बाहरी प्रभाव का ही परिणाम होगा। वरुण विषयक ऋचाओं का निर्माण संभवत उस समय हुआ होगा जब आर्य लोग मोहनजोदाड़ियों के सम्पर्क में आ चुके होंगे। इसके उपरांत वैदिक साहित्य में हमें दो विशेष उल्लेखनीय घटनाएँ मिलती हैं—एक तो केनोपनिषद के द्वारा प्रस्तुत की गयी है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। 'ब्रह्म' को देख कर वैदिक देवताओं का आश्चर्य और उसके समक्ष उनकी असमर्थता तथा उमा हैमवती द्वारा उसका परिचय—य तत्व यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि वैदिक देवताओं के परिकर में उनके लिए अपरिचित और दूसरे शब्दों में बाहरी तत्व का प्रवेश हुआ—उसका व्याख्यान 'उमा हैमवती' अर्थात् शिव परिकर की स्त्री ने किया। दूसरी महान घटना है 'श्वेताश्वतर उपनिषद की रचना'—श्वेताश्वतर में स्पष्टत भक्ति का प्रतिपादन है, और असंदिग्ध रूप में इस भक्ति का इष्ट 'रुद्रशिव' को बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद के ऋषि श्वेताश्वतर को महाभारत में 'महापाशुपत' कहा गया है। इसी उपनिषद में सबसे पहले 'भगवत' शब्द का प्रयोग शिव के लिए हुआ है। इन दोनों वैदिक घटनाओं को साथ-साथ देखने से विदित होता है कि वैदिकेतर क्षेत्र से आर्यों को पहले तो समस्त देवताओं के मूल स्रोत 'ब्रह्म' का ज्ञान कराया गया, और तदनंतर उसका अपनी परम्परा के अनुकूल नामकरण किया गया। फलत इस उपनिषद के द्वारा 'रुद्र' और 'ब्रह्म' परम्पराओं का सम्बन्ध हुआ और आर्यों ने वैदिक काल में ही 'भक्ति' को महत्व प्रदान किया।

और, तब भारत में कुछ बड़े परिवर्तन हुए और भक्ति का केन्द्र 'शिव' के स्थान पर 'विष्णु' को बनना पड़ा। 'शिव' का स्थान

विष्णु को सरलता से नहीं मिल गया इसके लिए अत्यन्त दीर्घ कालीन और भयानक संघर्ष हुआ, जिसका इतिहास भारत के पुराण और पुराण-पूर्व के साहित्य में बिखरा पड़ा है। असुरों का सम्बन्ध साधारणत शिव-पूजा से दिखायी पड़ता है। असुरों और सुरों अथवा राक्षसों और देवताओं के संघर्ष में यही शिव और विष्णु की ही प्रतिद्वन्द्विता दिखायी पड़ती है। सुरों-असुरों और देवों राक्षसों के संघर्षों की समस्त कथाओं को एकत्र करके देखा जाय तो यह सिद्ध होगा कि पहले शिव का दौर-दौरा था।[1] फिर शिव और शैवों को परास्त[2] करके विष्णु की प्रधानता हुई, दोनों में प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध[3] बहुत समय तक चला तब दोनों के समन्वय की चेष्टा हुई।[4] और अन्त में शिव पिछड़ गये तथा विष्णु का प्राधान्य[5] स्थापित हो गया। इस समस्त प्रवृत्ति में अनार्यों और आर्यों का परस्पर घुलमिल जाना ही निहित नहीं वरन् उनके विश्वासों का भी रूपान्तरित होना निहित है। शिव की प्राधान्य-द्योतक कथाएँ आर्यों से पूर्व की मानी जानी चाहिये, अथवा आर्यों से भिन्न समुदाय में प्रचलित मानी जानी चाहिये। शिव का रुद्र के साथ संयोग और त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' की कल्पना सामंजस्य और समन्वय का परिणाम है।

---

[1] रावण का समस्त देवताओं पर आतंक इसी शैव विजय का द्योतक है। श्वेताश्वतर ऋषि का 'महा पाशुपत' होना और उपनिषद् में रुद्र-शिव को ब्रह्म का स्थान देना भी इसी तत्व को प्रकट करता है।

[2] राम के द्वारा रावण की पराजय इसे सूचित करती है। सती दाह के उपरान्त शिव की विरक्ति में भी यही संकेत है।

[3] शिव का पार्वती से विवाह, स्कन्द का जन्म देवताओं की सहायता, शैव की पुनः प्रतिष्ठा का तत्त्व है। अर्जुन और शंकर का युद्ध इसी का प्रतीक है।

[4] शिव-विष्णु के भयानक युद्ध को ब्रह्मा ने शान्त किया और दोनों को एक बताया इसमें दोनों ही बड़े और अन्त में समन्वय का भाव बताया है। इस समन्वय को मूर्तियों में भी उत्कीर्ण किया गया। शिव विष्णु की संयुक्त मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

[5] परशुराम और राम का संघर्ष भी इसी का प्रतीक है। परशुराम शिव भक्त थे, तभी उन्होंने पिनाक के टूटने पर राम को ललकारा। राम ने पिनाक तोड़ा था, और परशुराम की पराजय और आत्म-समर्पण शिव की पराजय के ही द्योतक हैं।

किन्तु इस द्राविडी भक्ति का पाभत्व विष्णु को कैसे मिला, यह जानना भी आवश्यक है, पर उससे भी आवश्यक यह जानना है कि वेदों का यह लघु विष्णु, जो इन्द्र और वरुण के समक्ष हतप्रभ है, कैसे, बाद में इस महत्व को पा सका।

— ३ —

विष्णु का विकास

विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। ऋग्वेदों का यह उल्लेख ही विष्णु का प्रथम उल्लेख माना जाना चाहिए। ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक विष्णु के विषय में विकास दृष्टिगोचर होता है।

एक विद्वान् का कहना है कि—"ऋग्वेद के समय से धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं में बहुत अन्तर हो गया। जैसे अथर्ववेद में आते हैं वैसे ही यजुर्वेद संहिताओं और ब्राह्मणों में अब भी ऋग्वेद के पुराने देवताओं के दर्शन होते हैं। किन्तु उनका महत्व पूरी तरह मन्द हो गया है और केवल यज्ञ से ही उन्हें अपनी शक्ति मिलती है। प्रत्युत जो ऋग्वेद में केवल गौण स्थान रखते हैं वे इन कर्मकाण्डी संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं अधिक प्राधान्य पा लेते हैं जैसे विष्णु और विशेषतः रुद्र अथवा 'शिव'।

ऋग्वेद में विष्णु का कोई विशेष महत्व नहीं था। यह इसी से सिद्ध होता है कि उसमें ऐसी ऋचाएं बहुत ही कम हैं जिनमें विष्णु की ही स्तुति हो। विष्णु से अधिक ऋचायें इन्द्र, अग्नि वरुण अश्विन आदि की स्तुति में हैं। फिर अधिकांश ऋचाओं में विष्णु का उल्लेख अन्य कितने ही देवताओं के साथ हुआ। उनसे यह प्रतिभासित होता है कि विष्णु या तो उन सब के समकक्ष है। या उनसे गौण। इन्हीं विष्णु को हम यजुर्वेद में ही कुछ भिन्न रूप में पाते हैं।

यजुर्वेद के समय में आर्यों का धर्म पूर्णतः विकसित हो कर निश्चित हो चुका होगा। वैदिक धर्म कर्मकाण्ड सम्बन्धी है। वह यज्ञ और याग को महत्व देता है। अतः यजुर्वेद के अन्दर यज्ञ की प्रक्रियाओं और मन्त्रों का समावेश हुआ। यज्ञ करने-करानेवाले मान्य समझे गये। यज्ञ प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। यज्ञ ही सर्व शक्तिमान माना गया और यहीं यज्ञ को विष्णु माना गया।

विष्णु के इस यज्ञ-स्वरूप की ओर ऋग्वेद में भी संकेत है परन्तु वह बहुत ही हल्का है। वहाँ 'पूर्व्यम् ऋतस्य गर्भम्' कहा गया है। यज्ञ और विष्णु क्यों मिल गये इस सम्बन्ध में एक अनुमान रखा जा सकता है।

ऋग्वेद में विष्णु में सूर्य के गुणों की स्थापना मिलती है। सूर्य जैसी अद्भुत शक्ति को ऋषियों ने अनेक दृष्टियों से देखा। उसके विभिन्न व्यापारों को उसकी भिन्न भिन्न विशेषताओं के रूप में पृथक्-पृथक् देवता स्वीकार कर लिया गया। जो पहिले विशेषण मात्र होंगे वे अब उसके नाम हो गये और अन्ततः उनकी भी गणना देवों में होने लगी। 'सवितृ' 'विवस्वत' आदि मूलतः विशेषण ही हैं। इसी प्रकार विष्णु भी सूर्य का ही एक नाम था।

विष्णु शब्द इन्द्र तथा वरुण की भाँति वेदों के अन्य प्रकृति वाची देवताओं के नामों से भिन्न है। इसकी व्युत्पत्ति पर कई प्रकार से विचार हुआ है। सायण ने इसका शब्दार्थ 'व्यापनशील' दिया है। ब्लूमफील्ड ने 'वि+स्नु' म सन्धि विग्रहपूर्वक इसका अर्थ 'पृष्ठ पर होकर' (Through the back) किया है। आप्टे ने इसको साधारण व्युत्पत्ति के लिए यह उदाहरण दिया है—

यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात् ॥

इस व्युत्पत्ति में 'विश्' धातु का उल्लेख है और यह 'विश्' धातु ऐतिहासिक दृष्टि से हमें वेदों के उस विश् शब्द तक पहुँचाती है जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विशेष वर्गों को छोड़ कर शेष समस्त आर्य वर्गों के लिए प्रयोग में आता था और जिसका रूप वैश्य शब्द में अभी तक सजीव है। आप्टे द्वारा दी गयी उपरोक्त व्युत्पत्ति में यदि हम विश्व के स्थान पर विश रख दें तो स्पष्ट हो जायगा कि विष्णु वह देवता है जो समस्त विश जाति का इष्ट था—फलतः विष्णु नाम उस काल के किसी देवता को विश जाति के द्वारा दिया गया होगा और यह उसी वर्ग में विशेष प्रतिष्ठित होगा, यह संभावना विदित होती है। यही वैश्य जाति आज 'वणिक' भी कहलाती है और इतिहास के अन्वेषकों की स्थापना है कि यह 'वणिक' शब्द वैदिक 'पणिस' का ही रूपान्तर है और आगे भी वे कहते हैं कि यह 'पणिस' वैदिक-काल की अनार्य जाति थी। यह जाति वैदिक और वैदिक-पूर्व काल में

अत्यन्त ही प्रसिद्ध व्यापारी जाति थी। जो दूर-दूर देशों में जाकर वाणिज्य करती थी। वेदों की साक्षी से विदित होता है कि यह जाति संतन-कला में सिद्धहस्त थी क्योंकि इन्हें वेदों में 'ग्रथिन' कहा गया है। इनके पास विशाल लोहे के कोट थे ये सोम विक्रेता थे और य आर्यों की गायें चुरा ले जाते थे। इन्द्र ने इन्हें युद्ध में जीत कर सप्त सिंधुओं का जलमोचन किया। अब यह उल्लेखनीय है और विचारणीय है कि आर्यों की वैश्य जाति का विश शब्द और अनार्यों की जाति के द्योतक इस 'पणिस' या 'वणिक' का कैसे पर्यायवाची हो गया। निश्चय ही ये दोनो वर्ग परस्पर मिल-जुल गये होंगे। इस मेल जोल में ही सम्भवत यह रहस्य छिपा होगा कि शिव का स्थान विष्णु ने ग्रहण कर लिया।

आर्यो और अनार्यो के इस मेल-जोल ने देवताओं के संबध में ही वह तरल अवस्था प्रस्तुत कर दी कि इन्द्र विष्णु शिव में कोई भेद नहीं रहा ठीक वैसे ही जैसे कबीर ने सिद्ध करने की चेष्टा की कि राम और रहीम में कोई भेद नही। यह तरलता आर्यों के विविध वर्गों के देवताओं के नामों के सम्बन्ध में भी थी। विष्णु के पर्यायवाची जिष्णु शब्द को लिया जाय तो विदित होगा कि यह सूर्य, इन्द्र, विष्णु तीनो के लिए आता है। शिव को महेन्द्र बनाया गया 'मह' विशेषण से अत्यन्त आदर प्रदान किया गया और अन्त में वही 'महेन्द्र' तीसरे स्थान पर पहुँच गये।

जिष्णु और विष्णु की तुलना से यह भी विदित होता है कि 'जिष्णु' का मूल 'जि' है जिससे इसका शब्दार्थ होता है विजय की योग्यता वाला–विजेता। इसी अर्थ के कारण इन्द्र सूर्य, विष्णु ही नहीं अर्जुन भी जिष्णु कहे जाते है। उसी प्रकार 'वि'–मोक्ष है। जिससे विष्णु हुआ-मोक्ष की योग्यता रखने वाला–मोक्ष दाता। इस मोक्ष का भाव इन्द्र के साथ वृत्र और पणिस से बल मोक्ष का है और वरुण के साथ पाश–मोक्ष अथवा शुन शेफ के मोक्ष का है सभी विष्णु उपेन्द्र है।

विष्णु के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उसके तीन पदो की बात कई स्थलों पर मिलती है। विष्णु के तीन पदो में सारे संसार का तथा बलि का मापा जाना हम पौराणिक गाथा की भाँति सुनते आये हैं। इसका बीज सम्भवत वेद के यही तीन रहस्यमय पग हैं। यहाँ उनकी व्याख्या 'भू', 'भुव' 'स्व' के द्वारा की जाती है। उसका एक पद पृथ्वी पर, दूसरा अन्तरिक्ष अथवा वायु में और

तीसरा आकाश में। यह तीसरा पद पूर्णत रहस्यमय है, उसे परम पद भी कहा गया है। इस व्याख्या से भी विष्णु सूर्य का ही नाम प्रतीत होता है।

पूषन, मित्र आदि की तरह विष्णु सूर्य का पर्यायवाची है। अग्नि और सूर्य में भी कोई अन्तर नहीं। अग्नि भूलोक का देव है, सूर्य 'स्व' लोक का।[1] कार्य दोनों का प्राय समान ही है। अग्नि मनुष्यों के हाथ से हवि ग्रहण करके यज्ञ को सफल करता है, उसे देवों के पास पहुँचाता है, वह देवों का दूत है।

'ज्योति सूर्यो सूर्यो ज्योति स्वाहा'

'ज्योतिरग्नि अग्निर्ज्योति स्वाहा'

इन मंत्रों में सूर्य और अग्नि का एक मान और एक स्थान है। जो अग्नि है वही सूर्य है। अग्नि यज्ञ है सूर्य यज्ञ है। अग्नि सब देवों का दूत है तो उसे सर्व शक्तिमान नहीं कहा जा सकता। सूर्य भी भौतिक नाम रूपवाला है। पूषन मित्र सवितर आदि भी अपना-अपना कार्य करते हैं उनका क्षेत्र बँधा हुआ है। ऐसा कोई भी नहीं जो भू भुव और स्व को पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश को अपनी तीन डगों से नाप लेता हो ऐसा कोई नहीं है जो अन्य देवों (इन्द्रादि) की सहायता करने में यश प्राप्त कर चुका हो! सूर्य के अन्य पर्यायवाची शब्दों से विष्णु में यह आकर्षक अन्तर होने के कारण इस ओर अधिक ध्यान आकर्षित हुआ। अब विष्णु 'यज्ञ' कहा जाने लगा।[2] और वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गया। उसने ऋग्वेद के अन्य सभी देवताओं का मान-मर्दन कर दिया।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड के आरम्भ में एक कथा लिखी हुई है। देवताओं में झगड़ा उठ खड़ा हुआ उस

---

[1] शाकपूणि ने विष्णु के इस त्रिविक्रम की यही व्याख्या की है। उसके अनुसार विष्णु के प्रथम पद से अभिप्राय भूलोक के अग्नि देव से है। यही विष्णु भुवः अन्तरिक्ष में इन्द्र या वायु है और स्वः लोक में सूर्य है।

[2] 'यज्ञ' शब्द विष्णु का पर्यायवाची है। और 'यज्ञ' के संयोग से बने जितने शब्द हैं वो 'विष्णु' का अर्थ देते हैं—यथा यज्ञाङ्ग, यज्ञेश्वर, यज्ञफल, यज्ञभृत्, यज्ञाति, यज्ञपुरुष, यज्ञस्वरूप, यज्ञमत, यज्ञभुक्, यज्ञ-वाहक, यज्ञधार आदि। यज्ञ का अर्थ अग्नि भी है।

म विष्णु विजयी रहे और तब से वे सभी देवताओं में श्रेष्ठ कहे जाने लगे। उनका नाम ही श्रेष्ठ पड़ गया। यह कथा भी यही प्रकट करती है कि तब ऋग्वेद के सभी देवताओं में विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी।

वस्तुत विष्णु का अभ्युदय यजुर्वेद से आरम्भ हुआ। फर्कुहर साहब ने लिखा है कि—

"जहाँ तक हमें प्रमाण मिलते हैं यही प्रतीत होता है कि विष्णु का प्रथम उत्थान पुरोहितों द्वारा उसके यज्ञ माने जाने के कारण हुआ। इस अर्थ में यजुर्वेद के सैकड़ों चरणों में उसका नाम आता है।[1]

यजुर्वेद में विष्णु की प्रधानता रही। विष्णु और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं रहा। यज्ञ इस समय सर्वपूजित था अत विष्णु भी उसी स्थान को पा गये।

ऋग्वेद में जो विष्णु बहुत पिछड़े हुए थे वे यजुर्वेद में चमक उठे। वहाँ विष्णु उपेन्द्र थे 'इन्द्र के साथी' थे उनका पृथक कुछ महत्व न था। उन्हीं विष्णु को यहाँ पृथक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। स्थिति में परिवर्तन हो गया। जो यज्ञ पहले कामना सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था वह अब स्वत साध्य हो गया। वह स्वयम् देवता हो गया। यज्ञ ही विष्णु है ऐसा कई स्थानों पर कहा गया। विष्णु अब व्यावहारिक कर्मकाण्ड से ऊपर उठने लगे, अब उनके सम्बन्ध में परिभाषा ही नहीं होती। उनका रूप भावात्मक हो चला। वह कर्म-क्षेत्र से उठकर ज्ञान-क्षेत्र में पहुँचने लगे। इस काल के बाद का साहित्य वैदिक कर्म तथा यज्ञ-याग प्रधान धर्म के प्रति एक क्रान्ति का अध्याय आरम्भ करता है। ऋषियों को प्रतीत होने लगा था कि यज्ञ-याग करने मात्र से काम नहीं चल सकता। उस यज्ञ के स्वरूप को जानना आवश्यक है। वह यज्ञ मानसिक भी हो सकता है। बृहदारण्यक के आरम्भ में अश्वमेध यज्ञ की मानसिक उपासना के रूप में व्याख्या की गयी है। आरण्यक नगर से दूर एकान्त अरण्यों

---

[1] So far as our evidence goes it would seem as if Vishnu owed his first elevation to being indentified with the sacrifice by the priests In that sense his name occurs in hundreds of Passages in Yajurveda

के रहने वाले ऋषियों के निमित्त प्रतीत होते हैं। वहाँ वे आर्य धर्म के कर्मों को यज्ञयाम आदि का करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते थे? वहाँ सुविधा और सामग्री कहाँ थी! अतः वे मानसिक उपासना करने लगे।

वे यज्ञ के आवश्यक प्रतीत होने वाले उपचारों से भी मुक्त हो गये होंगे। यज्ञ की बलि ने भी उन्हें विचलित कर दिया होगा। ऋग्वेद में शुन शेफ का उल्लेख है उसकी कथा वैदिक ही है।

हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्रार्थना की 'मुझे पुत्र दो मैं उसे आपको बलि दे दूंगा। पुत्र हुआ। वरुण ने बलि मांगी। हरिश्चन्द्र टालता रहा। बड़ा हो जाने पर रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) जङ्गल में भाग गया। वरुण के शाप से हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। इन्द्र के कहने से रोहित वन में घूमता रहा। अन्तत वह ऋषि अजीगर्त के आश्रम में पहुँचा। ऋषि का कुटुम्ब भूखों मर रहा था। उसके तीन पुत्र थे शुन पुच्छ, शुन शेफ, शुनो लाङ्गूल। रोहित ने सौ गायें देने का वचन दिया और बदले में ऋषि के एक पुत्र को इसलिए चाहा कि वह बलि चढ़ कर रोहित को मुक्त करा दे। बड़े पर पिता का प्यार था छोटे पर माता का। अतः शुन शेफ रोहित के साथ गया। बलि की तैयारी हुई ऋषि अजीगर्त ही गायों के प्रलोभन में अपने पुत्र की बलि चढ़ाने को तैयार हो गये। शुन शेफ ने सोचा कि 'क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ फिर मुझ क्यों बलि चढ़ाया जाता है? उसने सभी वैदिक देवताओं की प्रार्थना की। उषा की प्रार्थना से हरिश्चन्द्र का रोग दूर हो गया। शुन शेफ मुक्त हो गया। इस प्राचीन कथा के रूप में वैदिक कालीन बलि की भयकरता के प्रति क्रान्ति दिखायी पड़ती है। भारतीयों की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राचीन वस्तु और कृत्य को अत्यन्त सम्माननीय मानने की ओर रही है। वे वैदिक कर्मों को त्याग नहीं सकते थे। उन्होंने उसका रूप बदल दिया। उसे मानसिक-उपासना का रूप दे दिया। इस काल में वैदिक कर्म को मानसिक और भावात्मक रूप मिलने के साथ उनके सत्य पर विचार करने की ओर झुकाव देखा जाता है।

इसी ब्राह्मण और आरण्यक के समय में 'ब्रह्म' का अभिवार जानने और बताने की चेष्टा की गयी। ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द के लिए आया। अब ब्राह्मणों के प्राधान्य से ब्रह्म यज्ञ तथा देवताओं से भी बढ़कर हो गया। विन्टरनिट्ज ने इसी को लक्ष्य करते

लिखा है—

"इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रह्म अब स्वर्गीय देवताओं का पार्श्ववर्ती 'मानवी देवता' नहीं रहा। वह देवताओं से ऊंचा उठ गया है। शतपथ ब्राह्मण में ही यह तो कह दिया गया मिलता है कि 'ऋषि से अवरोहित ब्रह्म ही वस्तुत देवता है अर्थात् उसी में सब देवता समाहित है।'[1]

ब्रह्म ने इस प्रकार प्रधानता पा ली। यह ब्रह्म इसी यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण सृष्टि का कर्ता हुआ। इसका रूप रहस्य-मय होता गया। इस कर्म-मार्ग के 'इन्द्र' अग्नि और वरुण की उपासना को छोड़कर ऋषि लोग बकुल में बैठकर ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करने लगे। कर्म-मार्ग की क्रांति ज्ञान-मार्ग में हो गयी। इस प्रत्यावर्तन ने ब्राह्मणों के युग का विकास उपनिषदों के रूप में कर दिया।

उपनिषदों में ऋषि कवियों ने इस रहस्य को बड़े मनोरंजक ढङ्ग से रखने की चेष्टा की। वे रहस्य को उस ब्रह्म को, अलौकिक बतलाने लगे। जो ब्रह्म को जानता है वह सबको जानता है उसकी प्राप्ति उसे मुक्त कर देगी। इस युग में वैदिक कर्म-मार्ग तथा भक्ति और यज्ञ-याग की कट्टरता प्राय शून्यवत् ही रह गयी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे वैदिक कट्टरता में परिवर्तन होता चला। इन्हीं उपनिषदों में अथर्ववेदीय उपनिषदों में हमें साम्प्रदायिक देवताओं के रूप दीख पड़ते हैं।

अथर्ववेद से हमें जिस ज्ञान विज्ञान का पता मिलता है उस पर बहुत कुछ लौकिकता का प्रभाव है। कुछ समुदाय तो आज भी अथर्ववेद को मानने के लिए तैयार नहीं। निस्सन्देह अथर्ववेद बहुत काल बाद वेदों में सम्मिलित किया गया। उसका सम्पादन भी बहुत बाद में हुआ। इस लौकिक प्रभाव से युक्त वैदिक उपनिषदों

---

[1]Thus at last the conclusion is arrived at, that the Brahman is no longer a human god by the side of the heavenly gods but that he raises himself above the gods. Already in the Satapatha Brahman it is said 'The Brahman descended from a Rusi indeed is all deities" I. e in him all deities are incorporated.

स्वच्छन्द वायु को भोगता हुआ यह ब्रह्म विश्व-देव के रूप में ग्रहण किया गया। यह ब्रह्म विश्व-आत्मा के रूप में दूसरी कोटि के उपनिषदों का विषय बना। साम्प्रदायिक उपनिषद् तीसरा श्रेणी में रखे गये हैं। उनमें आत्मा के स्थान पर विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रख दिया गया है। इनमें से कुछ पूर्ववर्ती योग-सिद्धान्त के आधार पर हैं। बाद के उनिपदों में उनके देव तार्मों के निजी गुणों का अधिकाधिक प्रकाशन किया गया है। इस श्रेणी के उपनिषदों की एक भारी विशेषता यह है कि प्राय सभी के अन्त में पाठ करने वालों और मनन करने वालों के लिए बड़े बड़े वरदानों की आशा दिखायी गयी है और विशेष आराध्य के पवित्र शब्दों और पूजनीय सिद्धान्तों का भी कहीं-कहीं अन्त में उल्लेख है। अब विष्णु इन उपनिषदों में कैसे विकसित हुए?

विष्णु सम्प्रदाय के उपनिषदों में सबसे पुराना रूप विष्णु की पूजा का नारायण है। यह नाम सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण के दूसरे भाग में मिलता है। यहाँ इस शब्द का सम्बन्ध विष्णु से नहीं। यहाँ तो यह जैसे मनु और विष्णु-पुराण के आरम्भ में आता है ब्रह्म (पुल्लिंग) का द्योतक है। तैत्तरीय आरण्यक की नारायणीयोपनिषद् में भी यही बात है। अथर्वण संस्करण की बृहन्नारायणोपनिषद् में भी यही लिखा है। इसमें इतना तब भी है कि उसे (नारायण को) 'हरि' नाम दिया गया है और एक स्थान पर तो वासुदेव और विष्णु से भी सीधा उसका सम्बन्ध कर दिया गया है। महाउपनिषद में ही सबसे पहले नारायण स्पष्ट रूप से विष्णु का प्रतिनिधि गोचर होता है। महाउपनिषद् एक गद्य रचना है। इसके प्रथम भाग में नारायण से विश्व का प्रादुर्भाव बतलाया गया है, और दूसरे भाग में नारायणोपनिषद के मुख्य स्थलों का अन्वय है। इसमें नारायण स्पष्टत विष्णु के प्रतिनिधि की भाँति आया है। क्योंकि शूलपाणि (शिव) और ब्रह्मा उससे उद्भूत होते हैं और विष्णु का कहीं उल्लेख नहीं। नारायणोपनिषद् में यह बात नहीं। वहाँ महाभारत के १२वें सर्ग के नारायण नामक अध्याय की तरह उससे विष्णु भी प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ जो मन्त्र सिखलाया गया है वह है 'ओइम् नमोनारायण'। इस उपनिषद का एक दूसरा पाठ भी उपलब्ध है, जो अथर्वशिरामों का एक भाग है। उस में देवकी पुत्र मधुसूदन को विशेषत 'ब्रह्मण्य' (पवित्र) कहा गया है। यह बात आत्म-प्रबोध

उपनिषद् में भी है जिसमें नारायण को परमेश्वर कह कर अभिहित किया गया है। गर्भोपनिषद् में भी नारायण को इसी गुण से युक्त बतलाया गया है।

इसके बाद विष्णु का दूसरा रूप नृसिंह है। अब तक जितना अनुसंधान हुआ है उससे यह विदित होता है कि विष्णु को नृसिंह नाम से तथा वज्रनख और तीक्ष्ण दंष्ट्र उपाधियों सहित पहले-पहल तैत्तरीय आरण्यक १० १-८ (नारायणीयोपनिषद्) में लिखा गया है। जिस उपनिषद् में इनकी सबसे पहले उपासना की गयी वह 'नृसिंहतापनी' है। यह अपेक्षाकृत अधिक बड़ी है। इसके दो भाग हैं। दोनों में ब्रह्मा विष्णु, महेश इस त्रयी का बराबर उल्लेख हुआ है।

यह सम्भवत ईसा की चौथी शताब्दी का ग्रंथ है क्योंकि उसी समय भारत के पश्चिमी घाट पर नृसिंह की पूजा प्रचलित थी, जिसका अब कहीं चिन्ह भी नहीं मिलता।

रामतापनी उपनिषद् में राम की परम ब्रह्म की भांति उपासना है। यह नृसिंहतापनी उपनिषद से अधिक मिलती-जुलती प्रतीत होती है। दूसरे भाग में तो यह मेल और भी अधिक है। इसमें याज्ञवल्क्य राम के दिव्य ऐश्वर्य के व्याख्याता की तरह आते हैं। साम्प्रदायिकता की पूरी छाप यहाँ मिलती है जहाँ पर स्वत शिव (शंकर) राम से यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन व्यक्तियों को जो मणिकर्णिका या गंगा में मरें मुक्त कर दें। यह उपनिषद् रामानुज-शाखा का है। इसकी तिथि ग्यारहवीं सदी हो सकती है।

विष्णु को विष्णु पुरुषोत्तम वासुदेव नाम से परमात्मा की भांति कई उपनिषदों में स्मरण किया गया है, कुछ में कृष्ण देवकी पुत्र की तरह आते हैं (आत्मप्रबोध और नारायण) परन्तु इनमें वे परमात्मा की तरह नहीं आते। गोपालतापनी में उन्हें पहले पहल दिव्य कोटि में रखा गया है। इसमें पहले मथुरा और व्रज की गोपियों का वर्णन है। फिर मथुरा को 'ब्रह्मपुर' बतलाया गया है। निस्संदेह यह बहुत आधुनिक है क्योंकि भाषा की दृष्टि से भी प्राचीनता नहीं झलकती। गोपीचन्दन उपनिषद् का भी सम्भवत यही स्थान है।

इस लम्बे अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित उपनिषदें बहुत पुरानी नहीं हैं। उनमें नूतन युग की बहुत सी बातें मिली हुई हैं। कम से कम 'तापनीयोपनिषदें'

हो अवश्य ही गयी है। निस्सदेह बौद्धों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है।

उस 'विष्णु' ने ऋग्वद कालीन 'सूर्य' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठता बना उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया। उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण नृसिंह राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे। कितने रंगों की रंजित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को इन्द्र धनुषी बनाया।

इतिहास का सिंहावलोकन हमें ठीक दिखा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-क्षेत्र नहीं आ पाया था। कर्म को वेदों ने उठाया, ज्ञानवाद को उपनिषदों ने चोटी पर पहुँचा दिया। कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए, एक झंझट का काम था। 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की जङ्गली कुटियों तथा पर्णशालाओं के शान्त वातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया। सबकी उस तक पहुँच कहाँ थी? लोक समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था। वह उसका विरोधी नहीं था। जो कुछ महापुरुषों के दिव्य मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था। बहुत काल से यही प्रथा थी।

समाज के पास कवि-हृदय था। जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हुल्लास की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति से व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निकटत्व स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी, वही कवि-हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था। ऐसे ही युग में महाभारत और रामायण का जन्म हुआ।

'मा निषाद प्रतिष्ठाम् इन शब्दों में बना यास ही लौकिक काव्यधारा महर्षि वाल्मीकि के मुख से प्रवाहित हो उठी। तात्पर्य, वैदिक और औपनिषदिक ढाँचे पर लौकिक-रंग चढ़ गया। उस पर 'लोक' की छाप गहरी बैठ गयी। वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था, अनादि अनन्त, अजर, अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो

गया।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनो काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-भूत से शून्य है और दूसरा वह जो विशेषत किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार 'महाकाव्य काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल-विकार-रहित गत भेदा।
कहि नित-नेति निरूपहिं वेदा।
भगति भूमि भूसुर-सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल।

इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु शिव संघर्ष में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यो ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र को शतरुद्रीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ो वासी शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया।

पद्मपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं। इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है। सौरपुराण में रुद्र को आकाश में स्थित माना है और गरुड़पुराण में शिव सूर्यायनम कहा गया है। बारह अदितियों में विष्णु के अर्थ शिव अथवा रुद्र भी हैं। अन्य महाभारत वामन कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है। भर्ग भी शिव का एक नाम है। रुद्र अग्नि भी हैं। इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एक भूमि पर आ गये तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे इन्द्र को पदच्युत कर दिया, इस शिव को भी हटा दिया। इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टत यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में श्रेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये, भृगु की लात से विष्णु की जय ही घोषित होती है। इस प्रकार शिव हट गये, विष्णु प्रधान हो गये, शिव से जो भक्ति संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी। और जब तक

हो अवश्य ही गयी है। निस्संदेह वीरों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है।

उस 'विष्णु' ने ऋग्वेद कालीन 'भूप' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठाता बना उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया। उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न अर्थों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण नृसिंह राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे। कितने रंगों की रंजित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य का इन्द्र धनुषी बनाया।

इतिहास का सिंहावलोकन हमें ठीक दिखा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-क्षेत्र नहीं आ पाया था। कर्म को वेदों ने उठाया ज्ञानवाद को उपनिषदों ने चोटी पर पहुँचा दिया। कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए एक झंझट का काम था। 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की जङ्गली कुटियों तथा धर्मशालाओं के शान्त वातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया। सबकी उस तक पहुँच कहाँ थी? लोक समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था। वह उनका विरोधी नहीं था। जो कुछ महापुरुषों के दिव्य मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था। बहुत काल से यही प्रथा थी।

समाज के पास कवि-हृदय था। जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम दुर्दाम की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निकटत्व स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी वही कवि-हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेष्ट था। ऐसे ही युग में महाभारत और रामायण का जन्म हुआ।

'मा निषाद प्रतिष्ठाम्   इन शब्दों में बना यास ही लौकिक काव्यधारा महर्षि वाल्मीकि के मुख से प्रवाहित हो उठी। तत्सम वैदिक और औपनिषदिक ढाँचे पर लौकिक-रंग चढ़ गया। उस पर 'लोक' की छाप गहरी बैठ गयी। वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था, अनादि, अनन्त अजर अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो

गया।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-सूत्र से शून्य है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि, अनूपा।
सकल-विकार-रहित गति भेदा।
कहि नित-नेति निरूपहिं वेदा।
भगति भूमि भूसुर-सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल।

इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु शिव संघर्ष में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र का शतरुद्रीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ो वासी शिव को सूर्य मानते थे—अब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया।

पद्मपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं। इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है। सौरपुराण में रुद्र का आकाश में स्थित माना है और गरुड़पुराण में 'शिव सूर्यात्मम' कहा गया है। बारह अदितियों में विष्णु के अर्थ शिव अथवा रुद्र भी हैं। अन्य महाभारत वामन, कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है। भर्ग भी शिव का एक नाम है। रुद्र अग्नि भी है। इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एक भूमि पर आ गये, तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे इन्द्र को पदच्युत कर दिया, इस शिव को भी हटा दिया। इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में श्रेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये भृगु की लात से विष्णु की जय ही घोषित होती है। इस प्रकार शिव हट गये विष्णु प्रधान हो गये शिव से जो भक्ति संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी। और जब तक

तो अवश्य ही नयी है । निस्संदेह बौद्धों से पूर्व विष्णु-पूजा था आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है ।

उस विष्णु ने ऋग्वेद कालीन 'सूर्य' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठता बना उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया । उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण नृसिंह राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे । कितने रंगों की रंजित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को इन्द्र-धनुषी बनाया ।

इतिहास का सिंहावलोकन इसे ठीक दिखा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही था उसमें अभी भक्ति क्षेत्र नहीं आ पाया था । कर्म को वेदों ने उठाया ज्ञानवाद को उपनिषदों ने चोटी पर पहुँचा दिया । कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए एक झंझट का काम था । 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की जङ्गली कुटियों तथा पर्णशालाओं के शान्त वातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया । सबकी उस तक पहुँच कहाँ थी ? लोक समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था । वह उनका विरोधी नहीं था । जो कुछ महापुरुषों के दिव्य मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था । बहुत काल से यही प्रथा थी ।

समाज के पास कवि-हृदय था । जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हृदय की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निकटस्थ स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी वही कवि हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था । ऐसे ही युग में महाभारत और रामायण का जन्म हुआ ।

'मा निषाद प्रतिष्ठाम्' इन शब्दों में अनायास ही लौकिक काव्यधारा महर्षि वाल्मीकि के मुख से प्रवाहित हो उठी । तात्पर्य वैदिक और औपनिषदिक ढाँचे पर लौकिक-रंग चढ़ गया । उस पर 'लोक' की छाप गहरी बैठ गयी । वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था अनादि अनन्त, अजर अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो

गया ।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिकता से मुक्त है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अविगत अलख अनादि अनूपा ।
सकल-विकार-रहित गति भेदा ।
कहि नित-नेति निरूपहिं बेदा ।
भगति भूमि भूसुर-सुरभि सुर हित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल ।

इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु शिव संघर्ष में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र को शतरुद्रीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ो वासी शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया ।

पद्मपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं। इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है। सौरपुराण में रुद्र को आकाश में स्थित माना है और गरुड़पुराण में "शिव सूर्यायनम" कहा गया है। बारह आदित्यों में विष्णु के अप शिव अथवा रुद्र भी हैं। अन्य महाभारत वामन कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है। भर्ग भी शिव का एक नाम है। रुद्र अग्नि भी हैं। इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एक भूमि पर आ गये तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे इन्द्र का पदच्युत कर दिया इस शिव को भी हटा दिया। इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में श्रेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये भृगु की लात से विष्णु की जय ही घोषित होती है। इस प्रकार शिव हट गये विष्णु प्रधान हो गये शिव से जो भक्ति संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी। और जब तक

उत्तरी भारत में यज्ञ-संस्कृति का प्राबल्य रहा, यह भक्ति-पूजा की संस्कृति दक्षिण में सुरक्षित रही। जैसे ही यज्ञ-संस्कृति का दौर शिथिल पड़ा यह भक्ति यज्ञ पति विष्णु को वरण करके यज्ञ को परास्त करने में सफल हुई। अब विष्णु 'यज्ञ भोक्तृ' न रह कर भक्ति-भोक्तृ हो गये।

किन्तु भक्ति के विकास में एक और मार्ग तय करना था। विष्णु कब अवतार ले सके? कब कैसे और क्यों वे राम और कृष्ण बने? यह भी कहानी रोचक ही है।

— ४ —

विष्णु से कृष्ण

विष्णु कैसे कृष्ण में अवतरित हुए अथवा रूपान्तरित हुए इसे समझने के लिए भी हमें समवत: वेदों से ही आरम्भ करना पड़ेगा क्योंकि यों तो अवतारवाद का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है पर उसको एक बार विचार का विषय न भी बनाया जाय तो भी यह प्रश्न बहुत ही आवश्यक है कि अवतार के लिए विष्णु ने कृष्ण को क्यों चुना और क्यों आगे के कवियों ने कृष्ण के लिए भी यह कहा कि उसके सम्बन्ध में वेदों ने नेति-नेति कहा है। क्या राम और क्या कृष्ण दोनों का प्रमाण वेद है और यह बहुत ही अद्भुत बात लगती है। वेदों में न राम हैं और न कृष्ण। हो भी कैसे सकते है। वेद तो सबसे आरम्भिक ग्रंथ हैं। राम और कृष्ण को यदि ऐतिहासिक पुरुष माना जाय तो दोनों ही वेदों की रचना के बहुत बाद में अवतीर्ण हुए। किन्तु बात इतनी साधारण नहीं है। वेदों में तो त्रिकाल की बात हो सकती है। न भी हो तो भी कृष्ण का जो व्यक्तित्व हमें आज मिलता है वह इतना जटिल है कि कभी कभी विद्वान तत्वदर्शी कृष्ण के ऐतिहासिक पुरुष होने में ही सन्देह करने लगते हैं। उनकी दृष्टि में कृष्ण नाम का व्यक्ति धरा पर अवतीर्ण नहीं हुआ। वह केवल कवि की कल्पना और लोक की वार्ता से उत्पन्न हुआ है और इस प्रकार उसके जटिल विकास में कई अवस्थायें मिलती हैं।

कृष्ण क्या है ? वे नारायण हैं वे वासुदेव हैं वे भागवत हैं वे गोपाल हैं, वे गोवर्द्धन धारी हैं, असुर सहारी हैं नाग नाथने वाले हैं, आदि आदि।

महाभारत की साक्षी से विदित होता है कि पहले नारायणी सम्प्रदाय था। शान्तिपर्व में इसके विषय में भगवान ने कहा है

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा। जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा। यहीं यह समाप्त हो जायगा। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु बलि-रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात् हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे। यह यज्ञ आरण्यक विधि से था अर्थात् मानसिक था एकांतिक था तभी वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है।

उधर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये। वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी। इसमें उन्होंने वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूंगा। इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं। वह वसु उपरिचर तक रहा। 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि विरोधी और एकान्तिक उपासक था। उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विलीन हो गया। सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुल था। यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर वसुदेव-व्यूह' को मानने लगा था। ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया। अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव सकर्षण हो गये थे।

यह सात्वत् धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था। पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्यकार पातंजलि ने बताया है कि वासुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे। अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे।

राजपूताने का घोसुण्डी का शिला लेख ई० पू० २०० का प्रतीत होता है। उसमें और १०० वष ई० पू० के नानाघाट गुफा के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है।

इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में बेसनगर का गरुड़स्तम्भ हेलियोदोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापित

किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व से प्रचलित सात्वत् धर्म ई० पू० की पहली-दूसरी शताब्दी तक भली प्रकार लोकप्रिय हो गया था और इसको अब सात्वत् न कहकर संभवत भागवत कहा जाने लगा था। संभवत भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले शैवों के लिए हुआ है। पातंजलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है। शिव भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी संभावना विदित होती है। अथर्वशिरस उपनिषद में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव को 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं, यद्यपि कोष में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण, सात्वत और शैवों के संगम से नारायण हरि वासुदेव भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था विष्णु'। किन्तु वासुदेव संकर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म मरण से युक्त थे। यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के इष्ट थे ये उनके कुल के वीर थे।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये। किन्तु नई खोजों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवत आदि अनार्य हैं। इनका नाम तामील भाषा का आमीर है जिसमें आ का अर्थ गाय है। आमीर अथवा अहीर तामिल शब्द आमीर में गोप-ग्वालों का पर्याय है। अहीर को व्रज में ग्वाला भी कहा जाता है। ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे। कृष्ण इनका नेता था। वेदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंशुमती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा० डी० आर० भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है। (डी० आर० भंडारकर सम असपेक्ट्स आव ऐंशयट इंडियन कल्चर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ संबन्ध है।

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ वृहस्पति तक पहुँचेगा। जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा। यहीं यह समाप्त हो जायगा। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे। यह यज्ञ आरण्यक विधि से था अर्थात् मानसिक या एकांतिक था सभी, वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है।

उधर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये। वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी। इसमें उन्होंने वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूंगा। इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं। वह वसु उपरिचर तक रहा। 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि-विरोधी और एकान्तिक उपासक था। उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विलीन हो गया। सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुल था। यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि के स्थान पर 'वसुदेव-व्यूह' को मानने लगा था। ऊपर के व्याख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया। अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे।

यह सात्वत् धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था। पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्यकार पातञ्जलि ने बताया है कि वासुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे। अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे।

राजपूताने का घोसुण्डी का शिला लेख ई० पू० २०० का प्रतीत होता है। उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के नानाघाट गुफा के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है।

इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में बेसनगर म गरुडस्तम्भ हेलियोदोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापि

किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व में प्रचलित सात्वत् धर्म ई० पू० की पहला-दूसरा शताब्दी तक भली प्रकार लोकप्रिय हो गया था और इसको अब सात्वत् न कहकर समवन भागवत कहा जाने लगा था। समवन भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले शैवों के लिए हुआ है। पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है। शिव भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी सम्भावना विदित होती है। अथर्वशिरस उपनिषद में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव का 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं यद्यपि काप म यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवन संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण सात्वत और शैवा के संगम से नारायण हरि, वासुदेव भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इससे अभिप्रेत था 'विष्णु'। किन्तु वासुदेव सकर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीरधारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे। यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के इष्ट थे ये उनके कुल के वीर थे।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि य भारतेतर प्रदेश म मान में आय। किन्तु नई शोधों स यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि य शुद्ध भारतीय ह और सम्भवत: आदि अनार्य हैं। इनका नाम तामील भाषा का आमीर हैं जिसमें आ का अर्थ गाय है। आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आमीर में गोप-ग्वालों का पर्याय ह। अहीर को ब्रज में ग्वाला भी कहा जाता ह। य गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थ। कृष्ण इनका नेता था। वेदों में भी एक ऐस कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंशुमती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा० डी० आर० भंडारकर का मत ह कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण ह। (डी० आर० भंडारकर सम अस्पेक्टस आव ऐंशयट इंडियन कल्चर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ सबन्ध है।

क यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा। जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा। यहीं यह समाप्त हो जायगा। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे। यह यज्ञ आरण्यक विधि से था अर्थात् मानसिक या एकांतिक था तभी वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है।

उधर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये। वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी। इसमें उन्होंने वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूंगा। इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं। वह वसु उपरिचर तक रहा। 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि विरोधी और एकान्तिक उपासक था। उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विलीन हो गया। सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुल था। यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर 'वसुदेव-व्यूह' को मानने लगा था। ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया। अब कृष्ण हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे।

यह सात्वत् धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था। पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्यकार पातंजलि ने बताया है कि वासुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे। अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे।

राजपूताने का घासुण्डी का शिला लेख ई० पू० २०० का प्रतीत होता है। उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के नानाघाट गुफा के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है।

इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में बेसनगर का गरुड़स्तम्भ हेलियोदोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापित

किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व से प्रचलित सात्वत् धर्म ई॰ पू॰ की पहली-दूसरी शताब्दी तक भली प्रकार लोकप्रिय हो गया था और इसको अब सात्वत् न कहकर सम्भवतः भागवत कहा जाने लगा था। सम्भवतः भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले शैवों के लिए हुआ है। पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है। शिव भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी सम्भावना विदित होती है। अथर्वशिरस उपनिषद में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव को 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं यद्यपि कोष में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण सात्वत और शैवों के संगम से नारायण हरि, वासुदेव, भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था 'विष्णु'। किन्तु वासुदेव संकर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे। यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के इष्ट थे ये उनके कुल के वीर थे।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये। किन्तु नई खोजों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि अनार्य हैं। इनका नाम तामील, भाषा का आभीर है जिसमें मा का अर्थ गाय है। आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आभीर में गोप-ग्वालों का पर्याय है। अहीर को ब्रज में ग्वाला भी कहा जाता है। ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे। कृष्ण इनका नेता था। वेदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंशुमती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा॰ डी॰ आर॰ भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है। (डी॰ आर॰ भंडारकर सम अस्पेक्टस आव ऐंशयट इंडियन कलचर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा । जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा । यहीं यह समाप्त हो जायगा । इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे । यह यज्ञ आरण्यक विधि से था अर्थात् मानसिक था एकांतिक था तभी वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है ।

उधर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये । वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी । इसमें उन्होंने वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियां बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूंगा । इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं । वह वसु उपरिचर तक रहा । 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि विरोधी और एकान्तिक उपासक था । उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विलीन हो गया । सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुछ था । यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर वसुदेव-व्यूह को मानने लगा था । ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया । अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे ।

यह सात्वत् धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था । पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्यकार पातञ्जलि ने बताया है कि वासुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे । अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे ।

राजपूताने का घोसुण्डी का शिला लेख ई० पू० २०० का प्रतीत होता है । उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के नानाघाट गुफा के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है ।

इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में बेसनगर का गरुड़स्तम्भ हेलियोडोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापित

किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व से प्रचलित सात्वत् धर्म ई० पू० की पहली-दूसरा शताब्दी तक भली प्रकार लोकप्रिय हो गया था और इसका नाम सात्वत् न कहकर संभवतः भागवत कहा जाने लगा था। सम्भवतः भागवत शब्द का प्रमाण साहित्य में सबसे पहले शैवों के लिए हुआ है। पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है। शिव-भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी सम्भावना विदित होती है। अथर्वशिरस उपनिषद में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव को 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं, यद्यपि कोष में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण, सात्वत और शैवों के संगम से नारायण हरि, वासुदेव भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था विष्णु। किन्तु वासुदेव-संकर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे। यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के श्रेष्ठ थे ये उनके कुल के वीर थे।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये। किन्तु नए शोधों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि अनार्य हैं। इनका नाम तामील भाषा का आमीर है जिसमें आ का अर्थ गाय है। आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आमीर में गोप-ग्वालों का पर्याय है। अहीर को ब्रज में ग्वाला भी कहा जाता है। ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे। कृष्ण इनका नेता था। वेदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंशुमती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा० डी० आर० भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है। (डी० आर० भंडारकर सम असपैक्ट्स आव एनशट इंडियन कलचर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आभीरों के प्राबल्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ-विधान के शैथिल्य के समय, उस व्यवस्था के विरोधी मत उभरे हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्राय समान थी अत वे परस्पर मिल गये । इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये ।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये । अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया । इस विकास में गोपियों का वह आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना इष्ट मानने का हठ करती हैं और वे मथुरा नहीं जाती हैं न वासुदेव, देवकी-पुत्र[1] वासुदेव में ही श्रद्धा दिखाती हैं । उद्धव से यही प्रार्थना करती हैं—'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिअत पतूखी' हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋचाओं का यज्ञ करते हैं, कृषक हल का यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे । हमें वन और गिरि की पूजा करनी चाहिये । हमें गायों की पूजा करनी चाहिये । भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे । मैं तो बलात् भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा । गाय पर्वत वन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं । इनका संबन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो अंशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनायें लेकर खड़ा हुआ था, वही वसुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त चमत्कारों से युक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषत विरोधी इन्द्र में इसी लोकमनोविज्ञान ने कृष्ण का जो चरित्र विस्तृत किया उसने वस्तुत उसमें इन्द्र के सभी चमत्कार सम्मिलित कर लिये । ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौतुकों का उल्लेख एक ही मंत्र 'सजनास इन्द्र' में अत्यन्त विशदता पूर्वक हुआ है । उसमें कृष्ण की प्राय समस्त लीलाओं का बीज विद्यमान है ।

1 देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख वेदों में है । इन्हें कई विद्वान वासुदेव के कृष्ण ही मानते हैं पर बहुत से अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं ।

— ५ —

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण-चरित्र के प्राय सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने बड़ी ओजपूर्ण वाणी में दृढ़तापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्र' हे मनुष्यो! वही इन्द्र है! इस मन्त्र में इन्द्र के महत्कार्यों का कवि ने उल्लेख किया है।

१ य जात एव प्रथम मनस्वान् देव देवान् क्रतुना पर्यभूषत।
कृष्ण को जन्म से ही परम ब्रह्म स्वीकार करने की ओर संकेत। समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कौन हो सकता है?

यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्
नृम्णस्य मह्ना
स जनास इन्द्र।

कुछ पुरातत्व से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा —

कं=जल-(सत्येनमाभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिधाय कं—पात्र कल्पय) तथा कंस=जल पात्र [A drinking vessel आप्टे] जलपात्र=पृथ्वी।

फिर

'स' का पृथक अर्थ भी होता है—सांप

क+स=जल का सर्प=अहिबुध्न। वायु भी अर्थ होता है।

कं+स=जल+वायु=धारा पृथ्वी

अब रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म के समय ही। रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं। पृथ्वी और आकाश। कं और स (कंस) में भी दो भाव हैं।

आभीरों के प्राबल्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ विधान के शैथिल्य के समय उस व्यवस्था के विरोधी मत उत्पन्न हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्राय समान थी अत वे परस्पर मिल गये। इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये। अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया। इस विकास में गोपियों का वह आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना इष्ट मानने का हठ करती हैं और वे मथुरा नहीं जाती हैं, न वासुदेव देवकी-पुत्र[1] वासुदेव में ही श्रद्धा दिखाती हैं। उद्धव से यही प्रार्थना करती हैं—'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिअत पतूखी' हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋचाओं का यज्ञ करते हैं, कृषक हल का यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे। हमें वन और गिरि की पूजा करनी चाहिये। हमें गायों की पूजा करनी चाहिये। भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे। मैं तो बलात् भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा। गाय, पर्वत वन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं। इनका सबन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो अंशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनायें लेकर खड़ा हुआ था, वही वसुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त चमत्कारों से युक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषत विरोधी इन्द्र में इसी लोकमनोविज्ञान से कृष्ण का जो चरित्र विकसित किया उसने वस्तुत उसमें इन्द्र के सभी चमत्कार सम्मिलित कर लिये। ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौतुकों का उल्लेख एक ही मन्त्र 'सजनास इंद्र' में अत्यन्त विशदता पूर्वक हुआ है। उसमें कृष्ण की प्राय समस्त लीलाओं का बीज विद्यमान है।

[1] देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख वेदों में है। इन्हें कई विद्वान भागवत के कृष्ण ही मानते हैं पर बहुत से अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं।

— ५ —

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण चरित्र के प्राय सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने बड़ी ओजपूर्ण वाणी में दृढ़तापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्र' हे मनुष्य! वही इन्द्र है। इस मंत्र में इन्द्र के महत्कार्यों का कवि ने उल्लेख किया है।

१ य जात एव प्रथम मनस्वान् देव देवान क्रतुना पर्यभूषत।
कृष्ण को जन्म से ही परम ब्रह्म स्वीकार करने की ओर संकेत। समस्त देवताओं म अधिक शक्तिशाली और कौन हो सकता है?

यस्य शुष्मात् रोदसीऽभ्यसेताम्
नृम्णस्य मह्ना।
स जनास इन्द्र।

कुछ दुरान्वय से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा —
कं—जल–(सत्येनमाभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिषाप्य कं—याज-वल्क्य) तथा कंस—जल पात्र [A drinking vessel-आप्टे]
जलपात्र—पृथ्वी।

फिर
'स' का पृथक अर्थ भी होता है—सांप
क+स—जल का सर्प—अहिवृत्र। वायु भी अर्थ होता है।
क+स—जल+वायु—द्यावा पृथ्वी
अत रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म के समय ही। रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं। पृथ्वी और आकाश। कं और स (कंस) में भी दो भाव हैं।

आभीरों के प्राबल्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ विधान के शैथिल्य के समय उस व्यवस्था के विरोधी मत उत्पन्न हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्राय समान थी अत वे परस्पर मिल गये। इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये। अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया। इस विकास में गोपियों का वह आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना इष्ट मानने का हठ करती है और वे मथुरा नहीं जाती हैं न वासुदेव, देवकी-पुत्र[1] वासुदेव में ही श्रद्धा दिखाती हैं। उद्धव से यही प्रार्थना करती है—मारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिअत पतूखी" हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण मन्त्राओं का यज्ञ करते हैं, कृषक हल का यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे। हमें वन और गिरि की पूजा करनी चाहिये। हमें गायों की पूजा करनी चाहिये। भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे। मैं तो बलात् भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा। गाय पर्वत वन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थी। इनका सम्बन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो अंशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनायें लेकर खड़ा हुआ था, यही वसुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त चमत्कारों से युक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषत विरोधी इन्द्र में इसी लोकमनाविज्ञान ने कृष्ण का जो चरित्र विस्तृत किया उसने वस्तुत उसमें इन्द्र के सभी चमत्कार सम्मिलित कर लिये। ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौतुकों का उल्लेख एक ही मंत्र 'सजनास इंद्र' में अत्यन्त विशदता पूर्वक हुआ है। उसमें कृष्ण की प्राय समस्त लीलाओं का बीज विद्यमान है।

---

[1] देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख वेदों में है। इन्हें कई विद्वान भागवत के कृष्ण ही मानते हैं पर बहुत से अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं।

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण-
चरित्र के प्राय सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही
प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र
के कवि ने बड़ी ओजपूर्ण वाणी में दृढ़तापूर्वक बताया है कि
'स जनास इन्द्र' हे मनुष्यो! वही इन्द्र है। इस मंत्र में इन्द्र के
महत्कार्यों का कवि ने उल्लेख किया है।

१ य जात एव प्रथम मनस्वान् देव देवान् क्रतुना पर्यभूषत।

कृष्ण को जन्म से ही परम ब्रह्म स्वीकार करने की ओर
संकेत। समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कौन
हो सकता है?

यस्य शुष्माद् रोदसीऽभ्यसेताम् ।
नृम्णस्य मह्ना ।
स जनास इन्द्र ।

कुछ दूरान्वय से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत
होते हैं यथा —
क—जल—(सत्येनमाभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिधाय्य कं—याग
वस्त्रय) तथा कस—जल पात्र [A drinking vessel-आप्टे]
जलपात्र—पृथ्वी।

फिर

'सं' का पृथक अर्थ भी होता है—साँप
कं+स—जल का सर्प—अहिवृत्र। वायु भी अर्थ होता है
कं+स—जल+वायु—द्यावा पृथ्वी
अत रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म
समय ही। रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं। पृथ्वी और आकाश।
और सं (कंस) में भी दो भाव हैं।

२ य पृथिवीम् व्यथमानाम् अदृहत्
जिसने व्यथमान दुःखी, पृथ्वी को दृढ़ किया, कैसे?
य पर्वतान् प्रकुपितान अरम्णात् ।
जिसने (अरम्णात्) फीका की (पर्वतान्) पर्वतों से जो (प्रकुपितान) हिले हुए थे, चपल थे ।

और

य अन्तरिक्षम् विममे वरीय

जिसने पर्वत को (अन्तरिक्ष) आकाश में पृथ्वी से ऊपर (विममे वरीय) उठा लिया और य द्याम् अस्तम्नात्–जिसने इस प्रकार उस पर्वत पर (द्याम्) आकाश के जल को रोका (अस्तम्नात्)

इस प्रकार अर्थ करने से इसमें गोवर्द्धन-धारण की घटना लक्षित होती है ।

३ य हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून्–जिसने सर्प को मारकर (सप्त) सपणशील नदी को प्रेरित किया मुक्त किया । कालियनाग से यमुना के मुक्त करने की ओर संकेत मिल सकता है ।

य गा उदाजत् अपधावलस्य–जिसने वल की गुहा में से गायों को निकाला । अघासुर नाम का एक असुर अजगर बनकर गायों को निगल गया था । कृष्ण भी साथ गये और उनका उद्धार किया ।

य अश्मनो अन्त अग्निम् जजान–जो पत्थरों से जिसने अग्नि पैदा की ।

सम्वृक समत्सु स जनास इन्द्र–जो संग्राम में नाश करने वाला ह । खांडव दाह के लिए हो सकता है यह संकेत ।

४ येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि–जड़ चेतन का कर्त्ता भी है कृष्ण

य दासम् वर्णम अधरम् गुहा अकरिरयक–दस्युओं अथवा असुरों को आधीन करने वाला । दास'—The words दास and दस्यु are used in the Rigveda of all the enemies of the Aryans, whether demons or men

(देखिए पीटर पीटरसन हिम्स फ्राम दी ऋग्वेद पृ ११०) श्वघ्नीऽ इवय जिगीवान् लक्षम्–सायण ने बताया है कि 'दवमिर्नु

गान् हन्तीति दवभ्नी व्याघ । यथा व्याघ्रो जिघृक्षन्त मृगं परि-ग्रहणाति तद्वद्—व्याघ जिस प्रकार अपने लक्ष्य का वध करता है उसी प्रकार असुरों का वध किया । कृष्ण ने तृणावर्त धेनुक केशिन आदि का वध किया था । और इसी प्रकार–

भावद् अर्य पुष्टानि– शत्रुओं की सपत्ति को (कृष्ण ने कंस का राज्य) प्राप्त किया ।

५ यम् स्म पृच्छन्ति कुह स इति घोरम् उत ईम् आहु न एष मस्ति इति एनम्–कि वह कौन ह, गोपियों ने पूछा जिसके सम्बन्ध में पूछा जाता है ।

'निर्गुन कौन देश को बासी' और जिस के सम्बन्ध में कहा जाता है 'वही नहीं है । उद्धव ने कहा वह निराकार है ।

स अर्य पुष्टी विज–इव आमिनाति श्रत् अस्मै धत्त–शत्रुओं की सपत्ति का जो नाश करता है उसमें श्रद्धा करो ।

य रध्रस्य चोदिता–'रध्रस्य चादिता' इन्द्र का बहुत प्रिय नाम है इसीलिए इन्द्र राधानांपति भी कहा गया है । रध्र ही राधा है समृद्धि की प्रेरक और उसको प्रेरित करता है इन्द्र । यह रध्र कृष्ण की राधा हो गयी है । सायण में तो एक स्थान पर रध्र का यह अर्थ भी दिया है 'रध्रमाराधक यजमानम्' ।

य कृशस्य य ब्रह्मण नाधमानस्य कीरे दुर्बलों और ब्राह्मणों का रक्षक ।

७ वे में इन्द्र को गायो का, ग्रामो का अनुशासक बताया है । उसे 'अपाम् नेता' कहा गया है । इसमें जल में से कमल लाने वाले का उल्लेख हो सकता है । गायों और गामों से उसका 'गोप' होना सिद्ध है ।

८ वे में यह बताया गया है कि युद्ध में प्रवृत्त दोनों पक्ष जिससे सहायता की याचना करते हैं । क्या इसमें अर्जुन और दुर्योधन दोनों का साथ-साथ युद्ध के लिए सहायतार्थ प्रार्थना करने जाने का बीज नहीं है ।

९ वें में 'यत्र कृष्णस्ततो जय' का भाव है । यस्माद् न ऋते विजयन्ते जनास । यही नहीं इसमें 'य विश्वस्य प्रतिमानम्' कह-कर कृष्ण के विश्वरूप (विराटरूप) का संकेत निहित कर दिया है ।

इस एक ऋचा से ही कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह इन्द्र का वर्णन नहीं कृष्ण का वर्णन है । इन्द्र विषयक अन्य ऋचाओं

२ य पृथिवीम् व्यथमानाम् अदृंहत्
जिसने व्यथमान, दुःखी, पृथ्वी को दृढ़ किया, कैसे ?
य पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात् ।
जिसने (अरम्णात्) क्रीड़ा की (पर्वतान्) पर्वतों से जो (प्रकुपितान) हिले हुए थे, चमक, थे ।

और

य अन्तरिक्षम् विममे वरीय

जिसने पर्वत को (अन्तरिक्ष) आकाश में पृथ्वी से ऊपर (विममे वरीय) उठा लिया और य द्याम् अस्तभ्नात्–जिसने इस प्रकार उस पर्वत पर (द्याम्) आकाश के जल को रोका (अस्तभ्नात्)

इस प्रकार अर्थ करने से इसमें गोवर्द्धन धारण की घटना लक्षित होती है ।

३ य हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून्–जिसने सर्प को मारकर (सप्त) सर्पणशील नदी को प्रेरित किया मुक्त किया। कालियनाग से यमुना के मुक्त करने की ओर संकेत मिल सकता है ।

य गा उदाजत् अपधावलस्य–जिसने बल की गुहा में से गायों को निकाला। अघासुर नाम का एक असुर अजगर बनकर गायों को निगल गया था । कृष्ण भी साथ गये और उनका उद्धार किया ।

य अश्मनो अन्त अग्निम् जजान–जो पत्थरों से जिसने अग्नि पदा की ।

संवृक समत्सु स जनास इन्द्र–जो संग्राम में नाश करने वाला है । खांडव दाह के लिए हो सकता है यह संकेत ।

४ येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि–जड़ चेतन का कर्ता भी है कृष्ण

य दासम् वर्णम् अधरम् गुहा अकरित्यक–शत्रुओं अथवा असुरों को आधीन करने वाला । दास–The words दास and दस्यु are used in the Rigveda of all th. enemies of the Aryans whether demons or men

(देखिए पीटर पीटरसन हिम्स फ्राम दी ऋग्वेद पृ ११७) श्वघ्नी इव य जिगीवान् लक्षम्–सायण ने बताया है कि 'श्वभिर्

गान् हन्तीति हवम्नी व्याध । यथा व्याधो जिघृक्षन्त मृगं परिगृह्णाति तद्वत्—व्याध जिस प्रकार अपने लक्ष्य का वध करता है उसी प्रकार असुरों का वध किया। कृष्ण ने तृणावर्त, धनुक केशिन आदि का वध किया था। और इसी प्रकार–

मावत् अर्य पुष्टानि– शत्रुओं की सपत्ति को (कृष्ण ने कंस का राज्य) प्राप्त किया।

५ यम् स्म पृच्छन्ति कुह स इति घोरम् उत ईम् आहु न एष अस्ति इति एनम्–कि यह कौन है, गोपियों ने पूछा, जिसके सम्बन्ध में पूछा जाता है।

'निर्गुन कौन देश को बासी' और जिस के सम्बन्ध में कहा जाता है 'वही नहीं है'। उद्धव ने कहा यह निराकार है।

स अर्य पुष्टी विज–इव आमिनाति श्रत् अस्म धत्त– शत्रुओं की सपत्ति का जो नाश करता है उसमें श्रद्धा करो।

य रध्रस्य चोदिता–'रध्रस्य चोदिता' इन्द्र का बहुत प्रिय नाम है इसीलिए इन्द्र राधानांपति भी कहा गया है। रध्र ही राधा है समृद्धि की प्रेरक, और उसको प्रेरित करता है इन्द्र। यह रध्र कृष्ण की राधा हो गयी है। सायण में तो एक स्थान पर रध्र का यह अर्थ भी दिया है "रध्रमाराधक यजमानम्"।

य कृशस्य य ब्रह्मण नाधमानस्य कीरे दुर्बलों और ब्राह्मणों का रक्षक।

७ वे में इन्द्र को गायों का, ग्रामों का अनुशासक बताया है। उसे 'अपाम् नेता' कहा गया है। इसमें जल में से कमल लाने वाले का उल्लेख हो सकता है। गायो और गामों से उसका 'गोप' होना सिद्ध है।

८ वे में यह बताया गया है कि युद्ध में प्रवृत्त दोनों पक्ष जिससे सहायता की याचना करते हैं। क्या इसमें अर्जुन और दुर्योधन दोनों का साथ-साथ युद्ध के लिए सहायतार्थ प्रार्थना करने जाने का बीज नहीं है।

९ वें में 'यत कृष्णस्ततो जय' का भाव है। यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनास। यही नहीं इसमें 'य विश्वस्य प्रतिमानम्' कहकर कृष्ण के विश्वरूप (विराटरूप) का संकेत निहित कर दिए हैं।

इस एक ऋचा से ही कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह इन्द्र का वर्णन नहीं कृष्ण का वर्णन है। इन्द्र विषयक अन्य ऋचाएँ

से भी ऐसी ध्वनि मिलती है।

उदाहरणार्थ ऋग्वेद के चौथे मण्डल का १८ वाँ मन्त्र लीजिये। इसके सम्बन्ध में W Norman Brown (Philadelphia) का कथन है।

"The fullest account of Indra s early days, as recorded in any single hymn of the Rigveda appears in VI. 18 J A O S 62, 93 95, this material with certain other material found elsewhere in the Rigveda is utilised in an effort to reconstruct the general outline of the story of Indra s birth and infancy" (सिद्-भारती pp 131)

ऋग्वेद के उक्त मन्त्र के प्रथम श्लोक से ही विदित होता है कि इन्द्र की माँ इन्द्र के उत्पन्न होते समय उसकी स्तुति कर रही है। वह जानती है कि इन्द्र देव है। साथ ही वह उससे यह भी प्रार्थना करती है कि अपनी माँ को ऐसे नारकीय स्थान में न पड़े रहने दे—

अयं पन्था अनुवित्त पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे
अतश्चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः

इस श्लोक से विदित होता है कि कृष्ण की माँ देवकी कृष्ण के जन्म पर उनके भगवान विष्णु रूप में दर्शन देने के समय उनसे प्रार्थना कर रही है—आप महान् हैं, प्राचीन परम्परा के अनुसार (यदा यदा हि धर्मस्य) आप अवतार ले रहे हैं, आप अवतार में। मैं यहाँ नारकीय स्थान में पड़ी हूँ। आप यहाँ न रहें। किन्तु समय पर इस नारकीय स्थान से मेरा उद्धार करें—

[Indra s mother speaks] This is the ancient accustomed path, by which the gods were all born upward. Thence let this Mighty one be born [upward] Let him not make his mother fall down there [in Hell]

उक्त अनुवादक ने 'अमुया' शब्द पर यह टिप्पणी दी है—

"Amuya" in the RV regularly means 'there in an evil scene: it is used of the place where the dead Vrtra lie (1 328) where demons lie (X. 89 14) where

go (1.29 5 X 85,30 probably also X 135 2. where Indra s to strike down the wicked (V 34. 5) here too it means 'That (awful) Place of VII 104. 17 implied in III 53 21

इसके स्पष्ट अर्थ हैं कि इन्द्र की मां वृत्र अथवा दानवों की बन्दिनी है। वह यहां से छिपकर किसी चमत्कार से इन्द्र को जन्म देने बाहर आयी है। अब इन्द्र को वहीं त्याग कर वह विवशता के कारण 'अमुया' उसी नारकीय स्थान को लौट रही है इन्द्र को वह देव समझती है और आशा करती है कि वह उसका उद्धार करेगा–

इस श्लोक से इन्द्र और कृष्ण का तादात्म्य और भी अधिक पुष्ट हो जाता है। दूसरे श्लोक में है–

नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि

बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै।

इस श्लोक में जैसे इन्द्र अथवा कृष्ण अपने मन में विचार कर रहे हैं किन्तु अभी संकटों का सामना नहीं करना चाहिए। अर्थात् वृत्र को मारने का अभी उद्योग नहीं होना चाहिए अभी तो मुझे बहुत से ऐसे कर्म करने हैं जो पहले नहीं हुए हैं तब युद्ध भी करना है और पूछताछ भी–

स्पष्ट है कि कृष्ण उन लीलाओं की कल्पना कर रहे हैं जो कंस को मारने से पूर्व उन्हें करनी हैं।

परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि

त्वष्टुर्गृहे अपिबत् सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य

He saw his mother leaving him. No no I shall follow her. I must surely go with her! In Tvastr's house Indra drank Soma a heemarred-worth of the pressed juice from the bowls

इसमें गायों को चराने और त्वष्ट के घर सोम पीने का उल्लेख है। त्वष्ट नन्द हैं सोम मक्खन है। यहाँ पर सोम के सम्बन्ध में जो टिप्पणी दी है वह ध्यान देने योग्य है–

"In other passages Indra steals the soma after overcoming Tvastr (III.48.4 of. I. 61 7) who seems to be the Mighty Father (but not Indra's father) cf. III 48.2.

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11 15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है जो कृष्ण की माखन चोरी लीला का बीज है। कृष्ण के गाय चराने का भी।

किस ऋभक ऋणवद् सहाय म मासो जभार शरदश्च पूर्वी
नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जातिपूत ये जनित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उल्लेख है।

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमान

कृष्ण के वरुण की ओर संकेत है द्यावा पृथ्वी को जन्म के समय कंपित करने की ओर संकेत है। कृष्ण के (मदगृह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है।

आगे के मंत्रों में किसी 'कुषाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था। ऋग्वेद के इस मंत्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े। अभी ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-शैथिल्य के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिवर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति न वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया। इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A A Macdonell ने इसका कारण निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods, such as brilliance, power beneficence, and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder storm slays them with lightning Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vrtra-slayer winner of cows and waters, sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra' (Vedic Mythology, pp 15 16)

अत इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पूर्णत आरोपित हुए । जब यज्ञ भाव से विष्णु का पलड़ा भारी हुआ तो फिर विष्णु में स्वत ही समस्त इन्द्र समा गया । वही विष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुकूल उतरेंगी । बृहद्देवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है ।

रसादान तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम ।
स्तुते प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृति (॥ ६)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11,15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है, जो कृष्ण की माखन चोरी लीला का बीज है। कृष्ण के गाय चराने का भी।

किम् स्वृधक् कृणवत् सहाय म मासो जभार शरदश्च पूर्वी
नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के वस्त्र का उल्लेख है।

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः

कृष्ण के वरुण की ओर संकेत है धावा पृथ्वी को जन्म के समय कंपित करने की ओर संकेत है। कृष्ण के (नंदगृह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है।

आगे के मन्त्रों में किसी 'कुषाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था। ऋग्वेद के इस मन्त्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े। भले ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-शैथिल्य के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिवर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति ने वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया। इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A A Macdonell ने

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods such as brilliance, power, beneficence, and wisdom such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder storm slays them with lightning Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vritra-slayer winner of cows and waters sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra" (Vedic Mythology pp 15 16)

अत इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पूर्णत आरोपित हुए । जब यज्ञभाव से विष्णु का पलड़ा भारी हुआ तो फिर विष्णु में स्वत ही समस्त इन्द्र समा गया । वही विष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुकूल उतरेंगी । बृहद्देवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है ।

रसादानं तु कर्मस्य वृत्रस्य च निवर्हणम ।
स्तुत प्रभुत्व नर्वस्य बलस्ये निखिला कृति (॥ ६)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11 15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है जो कृष्ण की माखन चोरी लीला का बीज है। कृष्ण के गाय चराने का भी।

किस ऋधक कृणवद् सहायं यं मासो जभार शरदस्क पूर्वी नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जातिषूत ये जनित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns ? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उल्लेख है।

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमान

कृष्ण के चरण की ओर संकेत है। कृष्ण के (नदगृह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण यहाँ है। द्यावा पृथ्वी को जन्म के समय कंपित करने की ओर संकेत है।

आगे के मंत्रों में किसी 'कुसाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है ? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था। ऋग्वेद के इस मन्त्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े। यज्ञ से ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-शैथिल्य के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिवर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति ने वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया। इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A. A. Macdonell ने इसका कारण निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people.

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods such as brilliance, power, beneficence and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments, but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder storm slays them with lightning. Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vritra-slayer, winner of cows and waters, sun and dawn, attributes all primarily belonging to Indra" (Vedic Mythology pp. 15-16)

अत: इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पूर्णत: आरोपित हुए। जब यज्ञ भाव से विष्णु का पल्ला भारी हुआ तो फिर विष्णु में स्वत: ही समस्त इन्द्र समा गया। यही विष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुरूप उतरेंगी। बृहद्देवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है।

रसादानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम्।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः (२।६)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X.8 8-9 II, 11 15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है, जो कृष्ण की माखन चोरी लीला का बीज है। कृष्ण के गाय चराने का भी।

किम् स्विदस्य कृणवद् सहायं यं मासो जमार शरदश्च पूर्वी
नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जातेषुत ये जनित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के वध का उल्लेख है।

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्
अथादस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः

कृष्ण के वरण की ओर संकेत है, द्यावा पृथ्वी को जन्म के समय कम्पित करने की ओर संकेत है। कृष्ण के (नन्दगृह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है।

आगे के मन्त्रों में किसी 'कुषाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था। ऋग्वेद के इस मन्त्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े। भले ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-औचित्य के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिवर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति ने वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया। इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A A Macdonell ने इसका कारण निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods, such as brilliance, power, beneficence, and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily [illegible] of terrestrial fire, dispels the demons of darkness [illegible] his light, while Indra the aerial god of the [illegible]-storm slays them with lightning Into the [illegible] of fire-god further enters his aspect as [illegible] atmosphere. The assimilation is [illegible] gods often being invoked in pairs. These [illegible] result in attributes peculiar to the one [illegible] themselves to the other even when [illegible] alone. Thus Agni comes to be called [illegible] Vrtra-slayer winner of cows and [illegible] attributes all primarily belonging to Indra" [illegible] thology pp 15 16)

मत इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु [illegible] फिर पूर्णतः आरोपित हुए । [illegible] भारी हुआ तो फिर विष्णु [illegible] यही विष्णु कृष्ण में अवतीर्ण [illegible] घटनाएं उसी के अनुकूल [illegible] । [illegible] परिभाषा यह दी गयी है ।

रमासान तु [illegible] ।
सुत [illegible]

"Now the taking up of moisture is his function, and the destruction of Vrtra (and)—the prevailing feature (prabhutvam) of (his) praise—the complete accomplishment of every (kind of) mighty deed."

इसमें कृष्ण के प्रमुख गुण लक्षित होते हैं। इसी गुण-आरोप के आधार को बृहद्देवता ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है —

"भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदु (।६१)
अग्निरस्मिन्नथन्वस्तु मध्यतो वायु रेव च ।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता । (।६६)

जो पृथ्वी पर अग्नि है अन्तरिक्ष में इन्द्र वायु वह दिव-लोक में सूर्य है। इस प्रकार एक का दूसरे में समन्वय हुआ।

लोकवार्ता के माध्यम से ऐसा हो जाना असम्भव नहीं। परन्तु राम और राम विष्णु के अवतार हैं। परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हैं। कृष्ण स्वयं विष्णु के अवतार हैं। वे उपेन्द्र होकर कृष्णावतार में इन्द्र का विरोध करते हैं। अर्जुन इन्द्र पुत्र है। कृष्ण के साथ वह भी खाण्डव दाह के मिस इन्द्र का विरोध करते मिलते हैं। इसी प्रकार इन्द्र का ही एक विकास कृष्ण में प्रस्तुत हुआ। ऐसे कृष्ण से नारायण हरि वासुदेव भगवान मिलकर वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा को भूतल भूमि पर ले आये। इसे भागवत् ने परिपूर्णता प्रदान की और वल्लभाचार्यजी ने उसे १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में लोक-भक्ति का इष्ट बना दिया और अवतारों की परम्परा की व्यवस्था करते हुए स्वयं कृष्ण हो गये।*

---

*वल्लभाचार्यजी महाप्रभु ही पहले के आचार्य अथवा गुरु पहले थे। तदुपरान्त वे स्वयं कृष्ण माने गये या हुए। गुरु का और इष्टदेव का यह अभेद और आस्तिक भाव भावना का ही परिणाम है। [illegible] सम्प्रदाय में तो गुरु के नाम से भी शिव अभिहित होते हैं। यथा, शङ्कर सम्प्रदाय के शिव जगद्गुरु हैं। शङ्कर गुरु हैं। वे स्वयं शिव का अवतार माने जाते हैं। वे स्वयं शिव हो गये हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण ही थे।

वल्लभाचार्यजी

लक्ष्मण भट्टजी को यज्ञशाला में रात्रि के चतुर्थ प्रहर स्वप्न में भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम ने ब्राह्मण वेश में प्रकट होकर बताया "मैं पूर्ण पुरुषोत्तम वैश्वानर स्वरूप हूं। लोक कल्याणार्थ स्वेच्छा से तुम्हारे पुत्र रूप में अवतार लेने के कारण मेरे अलौकिक चमत्कार के विषय में तुम्हें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं।' (सं०प्र०पृ०८१)

स्वप्न में विष्णु स्वामी सम्प्रदायानुयायी द्रविड़ देशीय विल्व मगल ने साक्षात् होकर निवेदित किया कि—"मेरी करुण प्रार्थना पर भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम ने कुछ समय बाद अपने मुखस्वरूप अग्नि के अवतार-आपके प्रकट होने की बात कहकर आज्ञा दी कि वल्लभाचार्य स्वयं भक्ति के द्वारा चार लाख जीवों को मेरी शरण में लावेंगे—" (स०प्र०८७)

कुछ दिनों के उपरांत श्री विट्ठलनाथजी ने (यह घटना विद्यानगर में घटी) वल्लभाचार्य तथा यतिराज व्यासतीर्थ को आत्मसमर्पण कराया। श्री वल्लभाचार्य से आज्ञा की कि अब विशेषतः अग्निस्वरूप वाक्पति होने के कारण सर्व संदेहों को आप स्वयं दूर कर सकेंगे। (स०प्र० ८६)

श्री वल्लभाचार्य वेदव्यास से मिलने बदरिकाश्रम पधारे। वहाँ व्यासजी ने वल्लभाचार्यजी से कहा कि अब आप में भगवान श्री कृष्ण का आवेश हो जाने से सर्वज्ञता प्राप्त हो गई है। (सं०प्र० ६०)

"—वल्लभाचार्य को रात्रि को स्वप्न में भगवान कृष्ण और वेदव्यास के दर्शन हुए और साथ ही व्यासजी के प्रति भगवान को इस प्रकार कहते सुना कि आपके द्वारा प्रणीत भागवत् के गूढार्थ प्रकट करने के लिए हीं मैंने मुखस्वरूप वल्लभाचार्य का प्राकट्य किया है। (स०प्र० ६३)

--भगवान श्रीकृष्ण ने पुन आदेश दिया कि मैं तुम्हारे घर में श्री गोपीनाथ तथा श्री विट्ठलनाथ नाम से पुत्र रूप में प्रकट होकर आग भी भक्ति का विस्तार करना चाहता हूँ ।
(स०प्र० ६५)

एक दिन यात्रा करते हुए श्री कृष्ण चैतन्य सहसा गगा तट पर विराजमान श्री वल्लभाचार्य के घर आये अन्त में वल्लभाचार्य ने परिस्थिति जानकर और ऐसी दृढ़ भावना कर कि इनके हृदय-मंदिर में साक्षात पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र विराजमान है यह स्वीकार करेंगे-असमर्पित भोजन सामग्री से ही महाप्रसाद खिलाकर विदा किया ।

जगन्नाथपुरी में दोनों में घनिष्ठता हो जाने पर वैष्णव सेवक से यह कह कर कि 'श्री वल्लभाचार्य गुप्त ही नहीं प्रत्युत साक्षा देवकी-पुत्र हैं' कृष्ण चैतन्य यात्रामें अन्यत्र चले गये थे
(सं० प्र० १०५, १०६)

श्रीमद् वल्लभाचार्य के स्वरूप में कितने हो महानुभाव वैष्णवों को साक्षात्प्रभु के दर्शन होते थे ।
(स० प्र० १०९)

वल्लभाचार्य की पत्नी को भी अपने पति के महात्म्य जानने की एक दिन उत्कट इच्छा हुई तो उनको भी अग्निपुञ्ज के मध्य में विराजमान 'भगवान श्रीकृष्ण के रूप में ही अपने पति देव के दर्शन हुए ।
(स प्र ११०)

एक दिन वल्लभाचाय के विषय में कलिकाल में भी उनके अलौकिक तेज और प्रतिभा को देख कर-उसके प्रश्न करने पर भगवान् नारायण ने कहा था कि यह भूतल पर दैवी सृष्टि के उद्धार तथा मायावादा धकार के निवृत्त करने के लिये अग्नि, व्यास नारद, रुद्र एव श्रीकृष्ण अशों से प्रकट हुए हैं । अग्नि के अंश से यह पूर्व जन्म में राजा भोज के रूप में प्रकट हो चुके हैं । सप्रति व्यासांश से आचाय-स्वरूप वागीश्वर-वदवानरांश से अद्वितीय भगवच्चरित्र के व्याख्याता नारदांश से समर्थ भक्ति प्रचारक, रुद्रांश से सन्यास धारण कर जीवों को भगवद्धाम प्रापक तथा भगवान् श्री कृष्ण के अश से सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा हैं । भविष्य में यह अपना अलौकिक तेज स्वात्मज श्री विट्ठलनाथजी में प्रतिष्ठापित कर भक्ति का अधिक विस्तार करेंगे । भगवतस्वरूप होने के कारण इनके अद्वितीय पराक्रम तथा दिव्य प्रभाव के विषय में किसी

प्रकार से आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं। (सं प्र पृ० ११०)

संन्यासाश्रम स्वीकार करने के पूर्व कुछ दिनों पहले श्रीवल्लभाचार्य ने अपने वयस्क ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथजी से इस प्रकार आज्ञा की कि मेरे लोक त्यागानन्तर तुम भी कुछ समय बाद नित्य लीला में प्रविष्ट हो जाओगे क्योंकि तुम्हारे द्वारा बलदेवांश का कार्य समाप्त हो चुका है। तुम्हारे स्थान पर तुम्हारे लघु भ्राता श्री कृष्णावतार श्री विट्ठलनाथ इस पक्ष के प्रवर्तक एवं पुष्टि मार्ग के संचालक होंगे। (सं प्र १११)

बहुत से दैवी जीव कृष्णावतार (सारस्वत कल्पाय) में भी मोक्ष न पा सके। क्योंकि आसुरी जीवों के साथ रच रहे थे। इससे श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी उन भक्तों को दुखी देख कर स्वयं दुखी हुए। श्री नाथजी को महान विरहताप क्लेश भयो सो श्री मुख में से अग्नि की ज्वाला निकसी। श्री स्वामिनीजी के मुख में से हू अग्नि की ज्वाला निकसी। सो दोऊ ज्वाला एकत्र भई। तब या अग्नि ज्वाला में से एक घनों सुन्दर स्वरूप प्रकट भयो तब उन ने प्रार्थना करी जो हम को कहा आज्ञा है। तब श्री नाथजी ने कह्यो जो तुम भूतल पर पधारो तब श्री आचार्यजी उन दैवी जीवन के उद्धारार्थ भूतल पर पधारे।

[श्री महाप्रभु की प्राकट्यवार्ता हरिरायकृत। भाव प्रकाश पृ०७-८

सो लक्ष्मण भट्टजी देखि कें विचार करन लागे जो भगवदाज्ञा सुपने में पहले मोकों भई जो-तिहार तीन पुत्र होंइगे तामें दूसरे पुत्र श्री भगवान होइगे। और दूसरे पुत्र को गर्भ तो स्रै गयो। सो कछु जान्यौ न पर्यौ और सगुन सगरे भगवद अवतार के होत हैं। (म प्रा भा प्र पृ १३)

चौरासी वैष्णव की वार्ता में समयवार्ता के ऊपर भावात्मक लेख लिखते हुए हरिरायजी ने बताया है कि

'चौरासी वैष्णव को कारण यह है जो दैवी जीव चौरासी लक्ष योनि में परे हैं॥ तिनमें ते निकासिवे के अर्थ चौरासी वष्णव कीए। सो जीव चौरासी प्रकार के हैं। राजसी, तामसी, सात्विकी निर्गुण किए चार प्रकार के मिरे। तामें से गुणमय, राजसी, तामसी, सात्विकी रहन दिए। सो श्री गुसांईजी उद्धार करेंगे। श्री आचार्यजी बिना श्री गोवर्धनधर रह न सके तो अपने अंतरमी निर्गुण पक्ष बारे चौरासी वैष्णव (प्रकट) कीए। सो एक एक लक्षयोनि में से एक एक एक वैष्णव निर्गुण बारे के उद्धार

वैष्णव द्वारा किए । और रस शास्त्र में रसादिक विहार के आसन चौरासी वैष्णव किए हैं सो वर्णन किए हैं । न्यारे-न्यारे अंग के भावरूप चौरासी वैष्णव इस लीला सम्बन्धी निर्गुण हैं श्री ठाकुर जी के अङ्ग रूप । ताते शास्त्र रीति सो आसन चौरासी या भाव सों अलौकिक हैं । और श्री आचार्यजी के अंग द्वादश हैं सो स्वरूपात्मक हैं । एक एक अंग में सात-सात धर्म हैं । ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य एक छह धर्म एक धर्मी एक सात में या प्रकार बारह सते चौरासी वैष्णव श्री आचार्यजी के अङ्ग रूप अलौकिक सर्व सामर्थ्य रूप हैं । और साक्षात पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला चौरासी कोस व्रज में है । सो एक एक जीव को अङ्गीकार कर दैवी जीव जो चौरासी लक्ष योनि में गिरे हैं तिनको उद्धार करि चौरासी कोस व्रज में जो जीव (जा) लीला सम्बंधी हैं तिनको तहाँ प्राप्त करन के अर्थ चौरासी वैष्णव अलौकिक प्रकट किए ।

(प्रा०वा०र०प्र०भा०पृ० १५ १६)

आचार्यजी के चार रूपों के अनुसार दैवी जीव

इस लेख में आचार्यजी के चार रूपों का उल्लेख किया है और तत्सम्बंधी दैवी जीवों का भी । वे चार स्वरूप ये हैं —

१ "ताते अपने अंतरंगी निर्गुण पक्ष वारे चौरासी वैष्णव प्रकट किए ।' अंतरंगी-आधिदैविक, निर्गुण पक्ष वारे वैष्णव-देह भाव रहित पुरुषाकार सुधा-बर्हापीड नटवर वपु स्वरूप साथे भावात्मरीते विलसनारा भक्तों ने प्रकट किया

२ "और रस शास्त्र रसादिक विहार के आसन (रूप) चौरासी वैष्णव किए हैं । न्यारे-न्यारे अंग के भाव रूप चौरासी इस लीला सम्बंधी निर्गुण हैं ।

अहीं आसन शब्द थी पात्र रूपता कहेली छे । रसनी स्थिति स्त्रीओं मां ज छे जे थी ने रसना पात्र रूप छे अने लीला शब्द थी संयोगत्वपण सिद्ध ज छे आ लीला नी स्थिति स्वामिनी भाव विना न थी । बस अहीं "स्वामिनी भाव संयुक्त" इत्यायुक्त श्री आचार्यजी परमानन्द रूप गूढ़ स्त्री भाव स्वामिनी स्वरूप प्राकट्य कहे लुं छे ।

३ "और श्री आचार्यजी के अङ्ग द्वादस हैं सो स्वरूपात्म

है।" यहि द्वादश मग शब्द थी साकार पुरुषोत्तम मूँ प्रतिपादन के कारण क 'द्वादशो वै पुरुष।'

४ 'चौरासी कोस ब्रज में जो जीव आ लीला को सम्बन्धी है तिनको तहाँ प्राप्त करन के अर्थ चौरासी वैष्णव अलौकिक प्रकट किए।" यहि केवल विप्रयोगात्मक कृष्ण स्वरूप कहेसुं छे।

सम्प्रदायमान्य ग्रन्थों के उक्त अवतरणों से यह स्पष्ट होजाता है कि सम्प्रदाय में किस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य को कृष्ण रूप माना गया, और इस सब की पृष्ठिभूमि में किस प्रकार विष्णु का, यज्ञ का अग्नि का और रुद्र का वैदिक अवैदिक लौकिक भाव सन्निहित है। इन्हीं महाप्रभु वल्लभाचार्य के उपक्रम से सूर ने गाया था –

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ।

.. ..

श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जगमांझ अंधेरौ। और इन वल्लभ के नख-चन्द्र की छटा सिवाय पुष्टि मार्ग के दूसरी वस्तु नहीं थी, यह पुष्टि मार्ग सूरदासजी जिसके जहाज कहलाते थे।

वल्लभ सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग)

वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों का विशेषतः अष्टछाप के कवियों का अध्ययन करने के लिए पुष्टिमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय का स्थूल दिग्दर्शन हम यहाँ दे रहे हैं–

नाम क्यों ?

पुष्टि का अर्थ अनुग्रह है। 'भागवत' में कहा गया है 'पोषणं तदनुग्रहः'–भगवान कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। अनुग्रह के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद ३ २ ३ में यह उल्लेख है 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' कठोपनिषद के १-२ २२ में भी यह दृष्टव्य है। यहाँ स्पष्ट विदित होता है कि ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ब्रह्म-सूत्र के २ ३ ४२ पर अणु भाष्य में स्वयं वल्लभाचार्यजी ने लिखा है 'फलदाने कर्मापेक्ष कर्म करणे प्रयत्नापेक्ष। प्रयत्ने कामापेक्ष। कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादा रक्षार्थं वेदवत्कार। तनोन बहूणि दोष गन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात्। भावान्यथा स पुष्टि मार्ग इति। इस में 'पुष्टि' मार्ग को मर्यादा मार्ग से भिन्न बताया है। एक स्थल और है जहां आचार्यजी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

"कृति साध्य साधन ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्ति मर्यादा। तद्रहिता नामपिस्वस्वरूप बलेन स्वप्रापण पुष्टि रित्युच्यते। [1]तथा च मं।

मर्यादा मार्ग में तो ज्ञान और भक्ति की साधना करने से मुक्ति मिलती है पुष्टि मार्ग में तो कृष्ण समर्पण करने से ही। इस

---

[1] भक्त अपनी ही शक्ति से (स्वसम्पन्न बलेन) मन को मुक्ति मार्ग में प्रवृत्त करता है, वह पुष्टि कहलाती है ?

प्रकार यह नाम मर्यादामार्ग से विभेद प्रदर्शित करने के लिए है। जिस मार्ग में फल कर्म के अनुसार न मिले वरन् ईश्वर की कृपा तथा अनुग्रह या पुष्टि से मुक्ति मिले—वही मार्ग पुष्टि मार्ग है। भगवदनुग्रह ही मनुष्य का निजी उद्योग नहीं मुक्ति का साधन है। पर अभिषिक्त हो जाने पर उनके भक्ति प्रचार से जब अधिकारी अनधिकारी दोनों प्रकार के जीव भगवत्तत्त्वज्ञ होकर भक्ति में सम्मिलित होने लग गये, और प्रवाहरूप सांसारिक सृष्टि का एक प्रकार से उच्छेद होने लगा तब भगवान् ने दैवी-आसुरी-सृष्टि के भेद-स्थापनार्थ एक मानसिक योजना की।[1] उन्होंने 'शङ्कर' से कहा कि आप भूतल पर अवतार लीजिये और ऐसे शास्त्रों का प्रणयन और प्रचार कीजिये जिससे मेरे माहात्म्य का तिरोधान और आपके माहात्म्य की अभिवृद्धि हो। आप ऐसे शास्त्रों का निर्माण कीजिये' जो आपाततः सत्य किन्तु सारतः असत्य हों।[2] 'भगवान शङ्कर' ने तब शङ्कराचार्य जी का अवतार लिया। उन्होंने 'आसुर-सृष्टि' के मोहनार्थ वास्तविक श्रुत्यर्थ को प्रच्छन्न कर उपनिषद गीता एवं व्याससूत्र, इस प्रस्थानत्रय पर भाष्य रचना की। इस 'ग्रन्थप्रणयन' से जगत में केवलाद्वैत सिद्धान्त का अतिशय प्रचार हुआ। इस सिद्धान्त को भक्तिमार्ग में मायावाद के नाम से अभिव्यक्त किया गया है।[3] 'मायैवासुरा' से मायावाद आसुरमत माना जाता है। इस प्रकार शङ्कर के उद्योग से आसुरी-सृष्टि दैवीसृष्टि से पृथक हो गयी। इस समय दैवीसृष्टि के कल्याणार्थ चार भक्ति-सम्प्रदायों का जन्म हुआ—

१ श्री रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय का २ श्री मध्वाचार्य के सम्प्रदाय का, ३ श्री निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय का और ४ श्री विष्णुस्वामी के परिष्कृत रूप श्री वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का।

किन्तु वल्लभाचार्य को पुष्टि-मार्ग की क्यों आवश्यकता समझ पड़ी और अन्य भक्ति सम्प्रदायों के रहते हुए भी इस सम्प्रदाय का क्यों उदय हुआ?

विद्यानगर में माध्वसम्प्रदायानुयायी यतिराज व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में श्री वल्लभाचार्य ने मायावादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। तब व्यासतीर्थजी ने इन्हें माध्वसम्प्रदाय को सँभालने के लिए निमन्त्रण दिया। उसी दिन

१ सं प्र पृ ५६। २. सं० प्र० पृ ५६। ३ सं० प्र० पृ० ३१।

श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मनीषी बिल्वमङ्गल ने स्वप्न में आचार्यजी से साक्षात्कार किया और बताया कि—

'आप व्यासतीर्थ के शिष्य न होकर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद पर विराजमान होइये'' "भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार देवाधिदेव शङ्कर ने शंकराचार्य रूप से अवतार लेकर जब दैवी जीवों को भी भक्ति से विमुख कर दिया तब मैंने उनके समीपवर्ती भृत्य वर्ग में स्थान पाने की अभिलाषा प्रकट की ।[1] तब भगवान श्री कृष्ण ने बताया कि मैं अपने मुख-स्वरूप अग्नि के अवतार के रूप में श्री वल्लभाचार्य नाम से प्रकट होऊँगा। तब भक्तिमार्ग की रक्षा का भार उन्हें सौंपकर मेरी साक्षात्सेवा में आ सकोगे । अत आप श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य बनिये ।"

यहीं बिल्वमङ्गल ने उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की श्रेष्ठता भी बतायी 'रामानुज सम्प्रदाय की सृष्टि पाद्मकल्पीय, सिद्धान्त पद्मपुराणोक्त, आचार्य लक्ष्मी गरुड़ आदि, उपास्यदेव श्रीलक्ष्मी-नारायण हैं । मध्व-सम्प्रदाय की सृष्टि श्वेतवाराहकल्पीय सिद्धान्त भारत रामायणोक्त, आचार्य वायु, हनुमान, भीमसेनादिक और उपास्यदेव श्री रामचन्द्र हैं । इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय की सृष्टि सौर कल्पीय, सिद्धान्त सूर्यमण्डलस्थ हिरण्मय पुरुष प्राक्त और आचार्य एवं उपास्यदेव हिरण्मय पुरुष हैं । विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की सृष्टि सारस्वतकल्पीय, उसका सिद्धान्त वेद-गीता व्याससूत्र-भगवान प्रतिपादित और आचार्य भगवन्मुख स्वरूप वैश्वानर एवं उपास्य रूप शुकवागमृताब्धीन्दु श्री गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण हैं ।[2] उन्होंने आगे भी बताया—

'उक्त सम्प्रदायों में भारतीय-पंचरात्र वैखानसादि शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-पूजादि का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है तथापि वह मर्यादामार्गीय है । अब आपको इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है ।[3]

इन सब अवतरणों से सिद्ध होता है कि वल्लभाचार्यजी ने

१—वही पृ० ८७ । २—वही पृ० ८८ । ३—वही पृ० ८८ ।

मायावाद का खण्डन किया। मायावादियों ने काशी के शास्त्रार्थ में प्रकट किया था कि—

'ब्रह्म निर्धर्मक निराकार, प्रपंच मिथ्या स्वरूप, मायाकृत और जीव वास्तव में चैतन्यरूप व्यापक ब्रह्म ही है। इसके प्रत्युत्तर में श्री वल्लभाचार्य ने प्रतिष्ठा की थी कि— ब्रह्म विरुद्ध-धर्माश्रय प्रपंच भगवत्कृत होने से सत्य और संसार—अहन्तात्मक—अविद्या कृत होने से मिथ्या एवं जीव—भगवदंश—अणु स्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य है।'

पुष्टिमार्ग का स्थूल पक्ष क्या ?

पुष्टिमार्ग मायावाद का खण्डन करता है भक्ति की स्थापना करता है, और भक्ति के अन्य सम्प्रदायों से भी पृथकता रखता है।

मायावाद के विरुद्ध तो यह शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक है। प्रपंच और संसार में भेद करता हुआ प्रपंच का भगवत्कृत मानता है इसलिए सत्य भी मानता है। संसार को अहन्तात्मक अर्थात् अविद्याकृत मानता है—संसार ही इसलिए मिथ्या है। जीव स्वयं चैतन्य स्वरूप ब्रह्म नहीं। फलतः 'अहं-ब्रह्म' का यह मार्ग विरोध करता है। यह तो जीव को भगवदंश अणु स्वरूप विसर्पिगुण चैतन्य मानता है।

चारों भक्ति सम्प्रदायों और उनके उपसम्प्रदायों* से वल्लभ सम्प्रदाय का पक्ष भिन्न है उक्त सभी सम्प्रदाय मर्यादामार्गी हैं। वे लक्ष्मीनारायण रामचन्द्र, हिरण्यपुरुष तथा श्रीकृष्ण (विष्णुस्वामी) को आराध्य मानते हैं। आराध्य की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का निकटवर्ती है इसीलिए उसे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। पर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से वल्लभ सम्प्रदाय का भेद है। विष्णु स्वामी सगुण भक्ति के प्रचारक और प्रतिष्ठापक थे। वल्लभाचार्यजी ने 'निर्गुण' (अहैतुकी निष्काम) भक्ति की स्थापना की।

शंकर ने सन्यास को प्रधानता दी। वल्लभ ने गृहस्थ धर्म का निभाने के उपरान्त अन्त में सन्यास लिया, और इस प्रकार दोनों का समन्वय स्थापित किया तथा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को पोष सिद्धान्त-रचना से विशेष अलंकृत किया है

---

*उपसम्प्रदाय ये हैं—

ये हैं—(१) गुरु सेवा, (२) भागवतार्थ (सुबोधिनी), (३) भगवत्स्वरूप निर्णय, (४) भगवत्सेवा (पूजा मार्गीय उपासना से विलक्षण) तथा (५) 'निरपेक्षता।' 'हरिर्यद्यत्करिष्यति, सर्वथ तस्य लीला' यह भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) इस सम्प्रदाय का मुकुट-हीरक है।

भगवान श्रीकृष्ण—

क्षर—'अधिभूतं क्षरो भाव' 'क्षर' परमात्मा का आधिभौतिक स्वरूप है।

अक्षर—'प्रकृति पुरुषश्चोभी परमात्मा मयत्पुरा,
मद्रूप समाधिष्ठाय मदक्षरमुदीर्यते।'

जिस रूप का अधिष्ठान लेकर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया है, वह अक्षर उनका आध्यात्मिक स्वरूप है।

इन दोनों से श्रेष्ठतम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, फलावतार पूर्ण पुरुषोत्तम, भगवान श्रीकृष्ण है। (स० प्र० पृ० १२१)

पूर्णावतारता—

भागवत में सूतजी ने लिखा है—'एतेचांशकला पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—ये वह कृष्ण हैं जो 'सारस्वत कल्प' के हैं और जिनका उल्लेख भागवत में हुआ है।

देवकी पुत्र भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा हैं और वह परब्रह्म साकार, व्यापक एवं विरुद्ध-स्वरूप है।

'श्रीवल्लभाचार्यजी साक्षात् श्री भगवान की अवतार हैं और चारों आचार्य चारों सम्प्रदाय के अक्षर ब्रह्म से प्रगटित हैं। जिनकी प्राप्ति ब्रह्म में है। (म० प्रा० वा० भा० प्र० पृ० ५०)

अतः श्री गुसाईंजी वल्लभाष्टक में 'वस्तुतः कृष्ण एव' एम आज्ञा करे छे [श्री० वा० र० प्रथम भाग—वार्तारहस्य (गुजराती) पृ० ५]

हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में एक स्थान पर यह भी लिखा है—

१—विष्णु सम्प्रदाय का चैतन्य, २—रामानुज सम्प्रदाय का नन्द (रामानन्द), ३—मध्व सम्प्रदाय का प्रचार, ४—निम्बार्क का स्वरूप (भं० प्र० पृ० ७४)।

"सो जैसे श्रीकृष्ण और श्री स्वामिनीजी में न्यारो स्वरूप जाने सो अज्ञानी । सो तैसे श्री गोवर्द्धनधर और श्री आचार्यजी हैं ।" (प्रा० वा० र० द्वि० भा० पृ० ५१)

इनसे निष्कर्ष मिलता है कि—

१—श्री वल्लभाचार्य वैश्वानरावतार अग्नि अवतार, पूर्ण पुरुषोत्तम के मुखावतार हैं । [अग्नि पुरुषोत्तम का मुख है] अत वे वाक्पति हैं ।

२—उनमें श्रीकृष्ण का आवेश है । वे साक्षात् प्रभु हैं, देवकी-पुत्र हैं वस्तुत कृष्ण हैं ।

श्री आचार्यजी के मुख्य सात स्वरुप—

१—मुख्य पुरुषाकार सुधा ।

२—आनन्द स्वरूप—भगवद्भाव रूप कृष्ण स्वरूप ।

३—परमानन्द स्वरूप—गूढ़स्त्री भावरूप स्वामिनी स्वरूप ।

४—कृष्ण स्वरूप—धर्मी विप्रयोगात्मक स्वरूप ।

५—वैश्वानर स्वरूप—तापात्मक ।

६—वल्लभ स्वरूप—लीला मध्यपाती दास्यरूप ।

और—

७—आचार्य स्वरूप—स मनुष्याकृति भक्तिमार्गमार्तण्ड और वाक्पति स्वरूप । (प्रा० वा० र० प्रा० भा० वार्तारहस्य गु० पृ० ५)

तहाँ आधिदैविक भक्ति तो श्री स्वामिनीजी, सो सदा व्रज में लीला करत हैं । सो भक्ति तो श्री गोकुल में प्रकट भई । ताही तें आचार्यजी श्री स्वामिनी रूप को प्राकट्य व्रज में अलौकिक रीति सों है । (श्री भा० प्रा० वा० पृ० १०)

और दामोदरदास को अलौकिक स्वरूप हैं सो ललिताजी को प्रागट्य है । वहाँ सगरी रहस्यलीला में श्री स्वामिनीजी की आज्ञाकारी जैसें ललिताजी तैसें हि यहाँ श्री आचार्यजी की आज्ञाकारी ललितारूप दामोदरदास—(प्रा० वा० र० पृ० ३७ ।*

*प्राचीन वा र० प्र भा० ५ १०६ की पाद-टिप्पणी में दामोदरदास के पत्र के पत्र के स्पष्टीकरण में लिखा है : द. लिखा सखि है । श्री स्वामिनीजी की

इन कथनों से यह सिद्ध होता है कि श्री आचार्यजी स्वामिनी-स्वरूप भी थे।

स्वामिनी कौन ?

स्वामिनीजी श्री चन्द्रावलीजी मानी गयी हैं। 'पुष्टि सम्प्रदायना मते अष्ट सखीना नाम आ प्रकारे छे,—श्री चन्द्राभामाजी, श्री ललिताजी, श्री विशाखाजी, श्री चम्पकलताजी श्री चन्द्रावलीजी, श्री राधासहचरी, श्री श्यामाजी अन श्री भामाजी। आठमां श्री चन्द्रावलीजी ने स्वामिनीत्व छे अन्य सात ने सखीत्व छे। (इन गुजराती पंक्तियों के लेखक ने पाद-टिप्पणी में बताया है कि 'आ समस्त प्रकरण युगलसर्वस्व अने अन्य प्राचीन पुस्तकोमांथी उद्धृत कर्यु छे। प्राचीन वा० र० प्र० भा० समस्तलीला प्रकरण

प्राचीन वार्ता रहस्य द्वितीय भाग में 'महानुभाव सूर' में 'भावप्रकाश' में पृष्ठ ३ पर लिखा है—

'या व्रज में श्री स्वामिनीजी और श्री ठाकुरजी आपु ये दोउ एक रूप हैं, परन्तु व्रजलीला प्रकट करिवे के लिये श्री ठाकुरजी श्री नन्दरायजी के घर प्रकटे और श्री स्वामिनीजी श्री वृषभानजी के घर प्रकट होय के अनेक उपाय मिलिवे को रात्र दिन किये।'

इससे विदित होता है कि स्वामिनीजी श्री वृषभानुनंदिनी हैं। वृषभानुनंदिनी राधा है।

यह बात प्राचीन वा० र० द्वितीय भाग में 'कृष्णदास अधिकारी' की वार्ता में हरिरायजी ने भावप्रकाश में स्पष्ट कर दी है। वहाँ प्रसङ्ग है कृष्णदास का गङ्गाबाई सम्बन्धी आक्षेप में गोसाईंजी को श्रीनाथ सेवा से वंचित कर देन का। हरिरायजी ने बताया कि कृष्णदास ललिता रूप हैं। ठाकुरजी गोवर्द्धनधर स्वामिनीजी आचार्यजी व दोना महाप्रभु में समीकन है। गोसाईंजी चन्द्रावली हैं—ये समस्त सखियां स्वामिनी है। इन उद्धरणों से स्पष्टता हो जायगी—

'जो श्री ठाकुरजी तें श्री स्वामिनीजी प्रकटी हैं। और

विरहव्यथा मन में निरन्तर कृष्ण संबन्धी मन तैरी रहा है। सो आचार्यजी (स्वामिनीजी) श्री द्वारकेश हो। कन्दि की परम वैध। मन चौंकि मुनावै। (श्री हरिरायजी)

स्वामिनीजी के मुखचन्द्र तें श्री चन्द्रावली प्रकटीं। श्री चन्द्रावलीजी तें सगरी स्वामिनी सखी प्रकटी हैं। ता सों श्री ठाकुरजी के दक्षिण भाग श्री चन्द्रावलीजी विराजत हैं। याते यो—सगरी सखीन के स्वामिनी रूप, श्री चन्द्रावलीजी (सो सब में) श्रेष्ठ है। ×

×[प्रा० वा० र० वि० भा० पृ० २२२]

'या प्रकार श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी की इच्छा तें श्री गोवर्द्धन गिरिराज में प्रकट भये और श्री स्वामिनीजी रूप श्री आचार्यजी महाप्रभु श्री गोवर्द्धनधर का प्रकट किये। सो लीला में श्री स्वामिनीजी तें चन्द्रावलीजी का प्राकट्य। ताही भांति सों यहाँ श्री आचार्यजी सों श्री गुसांईजी को प्राकट्य और ललिता सों कृष्णदास अधिकारी भये। [प्रा० वा० र० द्वि० भा० पृ० २२४]

इस प्रकार आचार्यजी में गोवर्द्धधन (ठाकुरजी) और स्वामिनी का आरोप हुआ है, और उनके समस्त परिकर को ठाकुरजी और स्वामिनीजी के परिकर का रूपक दिया गया है। जिस प्रकार आचार्यजी में दोनों रूप (पुरुष-स्त्री) स्थित हैं— उसी प्रकार प्रत्येक भक्त में। हरिरायजी ने भावप्रकाश में 'महानुभाव सूर' के आरम्भ में तथा और भी स्थानों पर इसी अभिप्राय की बातें लिखी हैं, उन्होंने लिखा है—'कुंज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहत पुं भाव के सखा और स्त्री भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और रात्रि कों सखी द्वारा अनुभव है। सो काहे तें? जो वेद की ऋचा हैं सो गोपी हैं। और वेद के जो मन्त्र हैं सो सखा हैं। तो यहाँ सो रसरूप लीला सदा सर्वदा एक रस है। सो तैसे ही मन्त्ररूपी सखा श्री ठाकुरजी के अङ्गरूप हैं। सो सखी रूप सखारूप दोऊ रूप सों रात दिन लीला रस करत हैं। सो तासों सूरदास 'कृष्ण सखा' को प्राकट्य हैं। और कृष्ण सखा को दूसरो स्वरूप सखी है सो लीलाकुंज में है तिनको नाम चम्पकलता है।

ब्रह्म के तीन प्रकार—

एक ही व्यक्ति में सखा और सखी के इस विधान से आचार्यजी और उनके परिकर का (आधिभौतिक का) आधिदैविक सम्बन्ध कर दिया गया है। जिससे अन्ततः शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा होती है। "आचार्य वल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधिदैविक=परब्रह्म, (२) आध्यात्मिक=अक्षर ब्रह्म,

(३) आधिभौतिक=जगत। अत जगत ब्रह्मरूप ही है।"

(भारतीय दर्शन व० उ० पृ० ५१६)

सखा-सखी और ब्रह्म—ठाकुर-स्वामिनी तथा उनके भौतिक रूप आचार्यजी और उनके परिकर की अद्वैतता इसी प्रकार सिद्ध होती है।

शुद्धाद्वैत—

पुष्टिमार्ग का ब्रह्म माया से अलिप्त अत नितान्त शुद्ध है। (भा० द० ५१५)

> माया सम्बन्ध रहित शुद्धामित्युच्यते बुधै।
> कार्यकारणरूप हि शुद्धं ब्रह्मन मायिकम ॥२८॥
> (शुद्धाद्वैत मार्तण्ड भा० द० पा० टि० ५१५)

"इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अङ्गीकृत किया गया है। अत उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है प्रत्युत स्वाभाविक है।" पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है।

ब्रह्म और जगत एक हैं—

जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वहीं रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव दशा में जगत तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत का आविर्भाव काय केवल लीला-मात्र है। (भारतीय दर्शन पृ०५१६)। अत जगत ब्रह्मरूप एवं नित्य है।

"जगत के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में इसी तत्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है—

> यथा सुवर्ण सुकृत पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
> तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशरहमस्य तद्वत् ॥

आचार्य जगत की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। (भा० द० पृ० ५१८)

जगत और संसार—

वल्लभमत में जगत और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत' कहते हैं, परन्तु पंचपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममता रूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। (भा० द० पृ० ११८)

अविद्या—

अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपज्ञान देहाध्यास इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है। परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत' का कभी विनाश सम्भव नहीं। (भा० द० पृ० ३१८, ५१)

जीव—

भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता।

ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता		
यश	,,	हीनता
श्री		समस्त विपत्तियों का आस्पद
ज्ञान		अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि
आनन्द	,,	दुःख को प्राप्त करता है।

'ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि स्फुलिंगवत् नित्य है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में ह्रास नहीं होता। वल्लभ-मत में भी जीव ज्ञाता ज्ञान स्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन—जड़ के निर्गमन में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोभाव रहता है। भगवान् के अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है—जीवन के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है। (प्रमेय रत्नार्णव)

जीव के प्रकार—

१—शुद्ध, २—मुक्त, ३—संसारी। स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्द का तिरोभाव होने से पूर्व तक की दशा—'शुद्ध'।

अविद्या का सम्बन्ध होने से 'संसारी'—ये दो प्रकार के १—दैव २—आसुर। दैव जीव के दो भेद १—मर्यादामार्गीय, २—पुष्टिमार्गीय।

मुक्त अवस्था में जीव आनंदांश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द हो जाता है। यह आनन्दांश पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान का नैसर्गिक अनुग्रह होने से प्राप्त होता है। (भारतीय दर्शन के आधार पर पृ ५१७-५१८)

किन्तु ऊपर के अध्याय में वल्लभाचार्य के स्वरूप के साथ साम्प्रदायिक दृष्टि से जीवों का एक वह प्रकार भी हमने प्रस्तुत कर दिया है जिससे आचार्यजी के रूपों से सम्बन्ध का आधार निश्चित होता है और भारतीय धर्मों में मानव चौरासी लाख योनियों में से प्रत्येक के उद्धार की सम्भावना निश्चित होती है। इसके आधार पर समस्त सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्तों को चौरासी और दो सौ वैष्णव भक्तों में ही विभाजित नहीं किया गया आगे सम्प्रदाय के स्वरूप को भी ढाला गया।

— ८ —

सम्प्रदाय के स्वरूप में गोपीभाव और सूर

वल्लभ सम्प्रदाय में हमें यह विश्वास प्रचलित मिलता है कि वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण थे। वल्लभाष्टक में श्री गुसाँईजी ने लिखा है 'वस्तुतः कृष्ण एव'। वल्लभ में कृष्ण का आरोप होने से उनके समस्त परिकर की अवतारणा पृथ्वीमण्डल पर की गयी। जिस प्रकार भागवतादि में कल्पना है कि कृष्ण के जन्म के समय वेद की समस्त ऋचायें गोपी बनीं अन्य गोप तथा अन्य दैवी जीवों ने भी लीला के लिए जन्म लिया उसी प्रकार के एक उद्देश्य के लिए वल्लभाचार्य में कृष्ण ने आदि स्वरूप हो पुनः अवतार लिया। वल्लभाचार्य के अवतार का कारण कृष्णावतार से भिन्न है। सम्प्रदायों की दृष्टि से तो यह अवतार मायावाद के खण्डन के लिए था। शङ्कर के मायावाद ने भारत में अपना प्रबल प्रभुत्व जमा लिया था, सम्प्रदाय के निजी अभिप्राय से यह कल्पना की गयी है कि सारस्वत कल्प में कृष्णावतार के समय अनेकों भक्तों को तो ठाकुरजी का धाम मिल गया, अनेकों उनसे विमुख होकर फिर भी रह गये। ये सभी दैवी जीव थे। इनका उद्धार करने के लिए भी वल्लभ का अवतार हुआ।

वस्तुतः जब हम वल्लभाचार्य के जीवन पर प्रकाश डालते हैं तो प्रारम्भिक अवस्था में उनमें हम मायावाद के खण्डन करने वाला प्रबल तार्किक ही पाते हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर मायावाद का खण्डन कर वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की। विजयनगर में उनके तर्क से प्रभावित होकर वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों ने उन्हें अपने मार्ग में अभिषिक्त करने का प्रस्ताव रखा था। उस समय तक स्पष्ट है कि उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय की कल्पना नहीं की थी। बाद में उन्होंने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय स्वीकार किया और तब अपने सम्प्रदाय की नींव डाली। अपने सम्प्रदाय की नींव

आपके समय भी उनमें स्वयं कृष्ण का अवतार होने की भावना नहीं थी पर उनकी महातेजस्विता और विविध विरोधियों के समक्ष अद्वितीय सफलता ने उनके भक्तों को प्रभावित किया। वे उनमें महापुरुषत्व के दर्शन करने लगे। वल्लभाचार्य ने अधिक से अधिक गुरुत्व धारण किया। 'श्री वल्लभ गुरु तत्व बतायौ लीला भेद सुनायौ'। धीरे धीरे उन्हीं के समय में उनके सम्प्रदाय के अन्दर श्री वल्लभकुल के प्रति महान श्रद्धा उदय हुई और उनमें अवतार होने की भावना जड़ पकड़ने लगी। सम्प्रदाय के पुराण का आरम्भ हो उठा। पर यह सम्प्रदाय की पौराणिकता भी गोसाँई विट्ठलनाथ के समय में सम्भवतः उन्हीं की प्रेरणा और उद्योग से विकसित तथा पल्लवित होने लगी, और हरिरायजी ने गोकुलनाथजी के साथ उसे पूर्ण कर दिया। सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रंथों का निर्माण तो श्री वल्लभाचार्य कर गये थे। उनकी दृष्टि से भगवान की लीला में सम्मिलित होने और उसके रस का आनन्द उपलब्ध करने के लिए भक्त भगवान की पुष्टि अथवा अनुग्रह पर निर्भर था—अतः यह मार्ग पुष्टिमार्ग था। उस पुष्टि को पाने के लिए कृष्णार्पण होना आवश्यक था। दार्शनिक दृष्टि से यह मार्ग 'शुद्धाद्वैत' था। गोसाँई विट्ठलनाथजी ने उसे सम्प्रदाय बना दिया। आचार्यजी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्याएँ की गयीं उनके कार्यों का उनके सिद्धान्तों की दृष्टि से एक समन्वय प्रस्तुत किया गया जहाँ समन्वय नहीं हो सका वहाँ किसी अलौकिक कथा द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया। ये गोसाँई विट्ठलनाथजी थे जिन्होंने अष्टछाप के रूप में अष्टसखाओं की स्थापना की। अतः पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों का निर्माण गोसाँई विट्ठलनाथजी के समय में हुआ। सम्प्रदाय में स्वयं गोसाँईजी को भी पूर्ण पुरुषोत्तम का रूप प्रदान किया गया। जो प्रभुन की यह रीति है जो जब बैकुण्ठ सों भूमि पर प्रकट होयबे की इच्छा करत हैं तब बैकुण्ठवासी जो भक्त हैं सो पहले भूमि पर प्रकट करत हैं सो तैसे ही श्री आचार्यजी श्री गुसाँईजी श्री पूर्ण पुरुषोत्तम को प्राकट्य हैं। (वार्ता प्रसङ्ग १० सूरदास, हरिरायजी कृत भावप्रकाश)

इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि वल्लभाचार्यजी और गोसाँईजी व समस्त परिवार और भक्त मण्डली का भी वैसा ही अलौकिक दैवी रूप कल्पित किया गया। कृष्ण के सखाओं के नाम

से इन सखाओं को भी अभिहित किया गया। पर इस प्रकार का आरोप गोस्वामी गोकुलनाथजी तक तो नहीं मिलता। उन्होंने अष्ट सखाओं के वर्णन में ऐसे अलौकिक दूसरे शब्दों में लीला रूपों का उल्लेख कहीं नहीं किया। 'भगवदीय ही सखामा है। 'श्री आचार्य महाप्रभुजी की प्राकट्यवार्ता' में जहाँ महाप्रभुजी के अन्य चमत्कारिक कृत्यों का उल्लेख है वहाँ एक पक्षी के सम्बन्ध में श्री आचार्यजी ने कृष्णदास मेघन को यह सूचना दी है यह पक्षी रासलीला में लीला परिकर में है वृन्दावन में। यह भगवदीय है लीला को सम्बन्धी है।—पर यहाँ। अभी नामकरण नहीं हुआ है। केवल स्थूल धारणा यह बनने लगी है कि परिकर के प्राणी दैवी जीव हैं। वे ही लीला-प्राप्ति के अधिकारी हैं। इसमें दामोदर हरसानी (हमला) अथवा कृष्णदास मेघन का लीला रूप गोकुलनाथजी ने निर्धारित नहीं किया। इसी प्रकार अष्ट सखाओं में से भी किसी का रूप निर्धारित नहीं हुआ। पर हरिरायजी 'भावप्रकाश' में प्रत्येक चरित्र का वर्णन ही लीला रूप का परिचय देते हुए करते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास के सम्बन्ध में उन्होंने सबसे आरम्भ में लिखा है—

'सो ये सूरदासजी लीला में श्री ठाकुरजी के अष्ट सखा हैं सो तिन में से कृष्ण सखा को प्राकट्य हैं। श्री परमानन्दजी के लिए लिखा है 'सो ये परमानन्दजी लीला में अष्ट सखान में 'तोक' सखा को प्राकट्य हैं। यही नहीं प्रत्येक भक्त का सखी रूप भी आध्यात्मिक परिचय के लिए दिया गया है। यहाँ अष्टछाप के ऐसे समस्त रूपों की तालिका देने से यह सब स्पष्ट हो जायगा —

नाम भक्त	लीलात्मक स्वरूप			
	सखा	सखी	भगवदंग स्वरूप	लीला विभिन्न स्वरूपासक्ति
सूर	कृष्णसखा	चम्पकलता	नाक	श्री मथुरेशजी
परमानन्ददास	तोक	चन्द्रभागा	जिह्वा	श्री नवनीतप्रिया
कुम्भनदास	अर्जुन	विशाखा	श्रोत्र	श्री गोवर्धननाथजी
कृष्णसखा	ऋषभ	श्री ललिता		
छीत स्वामी	सुबल	पद्मा	मुख	श्री विट्ठलनाथजी
गोविन्दस्वामी	श्रीदामा	भामा	नेत्र	श्री द्वारिकाधीशप्रभु

चत्रभुजदास विशाखा विमला त्वचा श्री गोकुलनाथजी
नन्ददासजी भोज चन्द्ररेखा उदर श्री गोकुलचन्द्रमाजी

इस सम्प्रदायिक रहस्य निरूपण का कार्य यहीं नहीं रुका। विविध सखियों के रंग रूप वस्त्र सेवा आदि सबका विधान किया गया जैसे दामोदरदास हरसानी का लीलास्वरूप ललिताजी रंग गोरोचन प्रभा उज्ज्वल लाल संयुक्त, वस्त्र का रंग मयूर पुच्छ, मुख्य सेवा पान की बीड़ी चातुर्य मध्या मुख्य स्नेह वर्धन भाव सख्य भाव वीन। इस प्रकार अन्य सखियों के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ। फलत पुष्टिमार्ग और उसके पूरे परिकर की रहस्य गाथा का एक महान अंश ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत हो गया है।

पुरुषों को सखा-रूप माना गया, यह तो ठीक है पर उनमें सखी रूप का आरोप क्यों हुआ? इस विषय पर हरिरायजी ने प्रकाश डाला है —

'यहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहे हैं जो—जब श्री ठाकुरजी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत हैं सो सगरी गोपीजन लीला को अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी व्रज की लीला गान करत है। ता पाछें जब श्री ठाकुरजी सन्ध्या समय वनतें घरकूँ आवत हैं सो तब पाछें रात्रि कों गोपीजन सो निकुंज में लीला करत हैं। सो तब अन्तरङ्गी सखानको विरह होत है, तब वे निकुंज लीला को गान करत हैं अनुभव करत हैं। सो काहे तें? कुंज में सखीजन ह सो तिनके दोय स्वरूप हैं सो कहत हैं—पु भाव के सखा और स्त्री भाव की सखि। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि कों सखि द्वारा अनुभव है।

इसीलिए प्रत्येक भक्त के दो स्वरूप मिलते हैं एक सखा रूप दूसरा सखी रूप एक दिन का एक रात्रि का। यह स्थिति तो इस विषय में वल्लभ सम्प्रदाय की है। पर इस सम्बन्ध में यह सम्प्रदाय अकेला ही हो ऐसी बात नहीं है। चैतन्य सम्प्रदाय में भी ठीक ऐसा ही सम्प्रदाय विधान प्रतीत होता है। वल्लभ सम्प्रदाय की मान्य प्रामाणिक पुस्तक 'सम्प्रदाय प्रदीप' में प० गदाधरदासजी ने विष्णु स्वामिन उप-सम्प्रदायश्चैतन्य" से विष्णुस्वामी का उप-सम्प्रदाय 'चैतन्य-सम्प्रदाय बताया है। उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय को भी विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय माना है। इस

प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय के विद्वानों ने चैतन्य सम्प्रदाय से अपना मौलिक सम्बन्ध सिद्ध किया है।

इस चैतन्य सम्प्रदाय में चैतन्य महाप्रभु कृष्ण हैं। उन्होंने राधा के प्रेम-भाव रूप में जन्म लिया जिससे वे राधा के कृष्ण प्रति प्रेम का स्वाद ले सकें। अत इस दृष्टि से चैतन्य राधा का भी रूप थे। राधा-रूप हुए बिना उस प्रेम का आस्वाद सम्भव नहीं था। चैतन्यचरितामृत में कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने लिखा है —

'श्री राधाया प्रणय महिमा कीदृशो वानयेवा,
स्वाद्यो येनोद्भुत मधुरमा कीदृशो वा मदीय।
सौख्य चास्यामदनुभवत कीदृशं वेति लोभा,
उद्भूवास्य समजनि शची गर्भ सिन्धो हरीन्दु' ॥

फलत इस सम्प्रदाय के छ गोस्वामी तथा अन्य अनुयायी ये भी गोपीभाव युक्त माने गये हैं।

"नाना स्थाने जन्मे जन सलासखीगन
पुन सबे आसि प्रभूर सहित मिलन।

राधा को प्रेम से भी ऊपर का महाभाव माना गया, और राधा की सखियाँ उस महाभाव सागर की लहरियाँ हुईं।

"प्रेमेर परमभाव महाभाव जानि
सेइ महाभाव रूपा राधा ठाकुरानी
भावेर लहरी यत ललिता विसाखा
सत्य कहि भावपूर्णमयी श्री राधिका।"

जिस भाव से जिस अनुयायी ने सेवाभाव ग्रहण किया, उसी भाव की गोपी या मंजरी से उसको विभूषित कर दिया गया। रूपगोस्वामी, रूप मंजरी हैं, रघुनाथ रसमंजरी और गोस्वामी विलासमंजरी आदि। 'मंजरी क्या? प्रधान सखियों की सखियाँ मंजरी कहलाती हैं। इस विकास में चैतन्य सम्प्रदाय में हमें तीन स्थितियाँ स्पष्ट मिलती हैं।

एक, जिसमें चैतन्य के अनुयायी सखा रूप में कल्पित किये गये हैं। मणीन्द्रमोहन बोस ने लिखा है "महाभारत में कृष्ण विष्णु हैं युधिष्ठिर धर्म हैं, अर्जुन इन्द्र हैं, भीम पवन हैं, इसी प्रकार अन्य पात्र भी। यह विश्वास है कि जब ईश्वर का अवतार

होता है तब उसके स्वर्ग के साथी भी पृथ्वी पर उसके परिकर की भाँति जन्म लेते हैं इन्हीं सिद्धान्तों पर बङ्गाली वैष्णवों ने चैतन्य और उसके साथियों का द्वापर युग के कृष्ण और इसके साथियों के रूप में माना है।

"In the Mahabharata, Krishna is Vishnu, Yudhishthira is Dharma, Arjuna is Indra Bhima is Pavana and so on with other personages It is also believed that when God incarnates Himself His associates in heaven are also born as His associates on earth Working on this principle the Bengali Vaishnavas have identified Chaitanya and his companions with Krishna and his associate in Dvapara Age. (Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol XIII)

इस नियम से चैतन्य कृष्ण हैं, उसकी स्त्री लक्ष्मी, अद्वैत महादेव, नित्यानन्द बलराम हैं। और

अभिराम ठाकुर—श्री दामा
सुन्दरानन्द—सुदामा
धनञ्जय पण्डित—वसुदामा
गौरीदास पण्डित—सुबल आदि (गौरगणोद्देशदीपिका)

फिर दूसरी अवस्था में चैतन्य के अनुयायी सखी रूप में परिकल्पित किये गये

गदाधर पण्डित—राधा
रूपगोस्वामी—ललिता
राय रामानन्द—विशाखा, आदि।

तीसरी अवस्था में सखियों की सखियाँ—मञ्जरियाँ—भी इस आरोप का विषय बनायी गयीं।

रुपमञ्जु मञ्जरी हय गोसाँई सनातन
रति मञ्जरी हय रघुनाथदास
अनन्त मञ्जरी हय गोपाल भट्ट आदि (रागमाला)

राधा 'महाभाव' प्रेम से ऊपर, इस दिव्य प्रेम के दो प्रकार मुख्य तथा गौण, मुख्य में पाँच सूक्ष्मतर भाव शान्त पति, प्रेम,

वात्सल्य, और मधुर, गौण के साथ हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण रौद्र भयानक तथा वीभत्स। इन बारहों भावों का अपना-अपना रङ्ग श्वेत, चित्र अरुण, शोण, श्याम पाण्डुर पिङ्गल, गौर धूम रक्त, काल तथा नील (भक्तिरसामृत)

मणीन्द्रनाथ बोस का कहना है कि ये बारह सूक्ष्म मनोभाव तुरन्त ही हमें राधा की बारह सखियों का स्मरण दिलाते हैं। These twelve finer emotions at once remind us of the twelve Sakhis of Radha सखियों के रङ्ग की कल्पना की गयी है

श्री ललिता जिह गौरोचना वर्ण
श्री विशाखा बिई विद्युत वर्ण आदि (गुणातिका)

इन वैष्णवों ने भी केवल रङ्गरूप का उल्लेख ही नहीं किया, वस्त्र तथा आयु भी निर्धारित कर दी है।

प्रश्न यह है कि इन दोनों सम्प्रदायों में यह रूपक कल्पना स्वतन्त्र उदय हुई और सयोग ही है कि इस प्रकार का साम्य हो गया, क्योंकि दोनो के सम्प्रदायो का दार्शनिक स्थूल आधार एक ही था वल्लभ 'वस्तुत कृष्ण एव ठाकुरजी और स्वामिनीजी दोनों एक। चैतन्य कृष्ण और राधामय हैं। अथवा एक ने दूसरे से ग्रहण की।

यह आरोप आकस्मिक नहीं हो सकता, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है। कारण यह है—दोनों सम्प्रदाय एक ही समय में पल्लवित हो रहे थे। एक सम्प्रदाय के व्यक्ति दूसरे से अपरिचित नहीं थे। श्री वल्लभाचार्यजी कृष्ण चैतन्य से मिले ही थे। विट्ठलनाथजी के समय में रूप सनातन मथुरा-वृन्दावन में थे ही। (देखो कृष्णदास की वार्ता अष्टछाप में)। वरन् पहले श्रीनाथजी की सेवा बंगाली वैष्णव ही करते थे। वार्ताकार ने उनकी कुटिया में किसी देवी की मूर्ति का उल्लेख कर उन्हें शाक्त प्रकट किया है पर शाक्त को महाप्रभु वल्लभाचार्य कभी श्रीनाथ की सेवा नहीं सौंपते। दोनों सम्प्रदायो का मूल स्रोत धम की स्थापना की प्रस्थानत्रयी और भागवत ही मानी जायगी। उसके आधार पर सखीभाव का आरोप होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस भाव का किसी प्रकार बीज उदय हो जाने पर उसके विकास और वृद्धि के लिए तो इनमें से बहुत सामग्री मिल सकती है।

पर मूलभाव का इस प्रकार उदय इन मूल स्रोत ग्रन्थों से नहीं हो सकता था कि एक पुरुष सखा भी हो सकता है तथा सखी भी। तब सम्प्रदाय की आन्तरिक आवश्यकताओं में ही इस भाव के होने के बीज मिल सकेंगे।

चैतन्य सम्प्रदाय में यह मान्यता है कि महाभाव राधा के भाव को लेकर ही कृष्ण ने चैतन्य का अवतार ग्रहण किया। यही कारण है कि हमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन में ऐसे स्थल मिलते हैं जबकि उन्होंने भावातिरेक और भावावेश में विह्वल हो अपनी सुधि बिसरा दी है। उनमें इसलिए भावपक्ष की प्रधानता थी। वल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभ को ठाकुरजी और स्वामिनीजी से अभिन्न माना है तब भी वल्लभ के जीवन में हमें वह भावावेश नहीं मिलता आचार्यत्व और सिद्धवाक्यत्व मिलता है। वार्त्ताकार ने परमानन्ददास की वार्त्ता में एक स्थल पर श्री वल्लभाचार्य के बेसुध होने का उल्लेख किया है।

'तब परमानन्ददास अपने मन में बिचारे जो—या समय श्री आचार्यजी को मन तो व्रजलीला में श्री गोवर्धननाथजी के पास है। तासों विरह को पद गाऊं जामें एक-एक क्षण कल्प समान जाय। सो यह —

राग सोरठ—'हरि तेरी लीला की सुधि आवै'

यह पद परमानन्द ने गायौ। सो यामें यह कहें जो—'हरि तेरी लीला की सुधि आव सो ताही समय श्री आचार्यजी आपु लीला में मग्न हो गए। जो तीन दिना लौं श्री आचार्यजी को मूर्छा रही"।

इस प्रकार की किसी घटना का उल्लेख वल्लभ चरित्र के सबसे प्रमाणिक लेखक कवि गदाधर ने 'सम्प्रदाय प्रदीप' में कहीं नहीं किया। किन्तु यदि इसको विशेष महत्वपूर्ण न भी माना जाय तो भी ऐसी घटना आचार्यजी के जीवन में अनोखी अपवाद स्वरूप ही मानी जायगी। फिर यह मूर्च्छा भावावेश के कारण नहीं, रस के आनन्द से उत्पन्न होने वाली नहीं, समाधि की भांति आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप में अपनी रहस्य लीला में मग्न होने के कारण है इसमें अलौकिकत्व है। एक अन्तर यह भी है कि चैतन्य महाप्रभु अपन उद्योग स कीर्तनादि करते हुए भावरत होते थ। वल्लभ महाप्रभु भक्त के कीर्तन या स्मरण के द्वारा वह समाधि-योग प्राप्त करते थे।

इसी का परिणाम हमें यह मिलता है कि वल्लभ सम्प्रदाय का समस्त प्रमुख पद-साहित्य पृथक भाव-योग का साधन नहीं रहा वह सेवा प्रणाली में कीर्तन-नाम से एक अङ्ग मात्र रह गया है। सम्प्रदाय में जसा विधान है विशेष सेवाओं के अवसर पर विशेष कीर्तनों का प्रबन्ध किया जाता था और वे कीर्तन इसीलिए ठाकुरजी के लिए उन्हें रिझाने और प्रसन्न करने के लिए होते हैं भक्तों को भाव विह्वल करने के लिए नहीं।

चैतन्य सम्प्रदाय की भाँति वल्लभ सम्प्रदाय में भी गोपीभाव को प्रधानता दी गयी है उनके प्रेम को श्रेष्ठ माना गया है। उस प्रेम की चाह भी तीव्र रूप में इस सम्प्रदाय में उपस्थित है। परन्तु यह प्रेम भावुकतापूर्ण उतना नहीं जितना अन्तर्गत और निजी है। साथ ही इसका उद्भव भगवत्-अनुग्रह पर निर्भर करता है। वह अनुग्रह गुरु के द्वारा कृष्णार्पण होकर निरन्तर गोपीभाव से सेवा करने से ही मिले तो मिले। फलत यह प्रेम भी प्रेमालक्षणा की कोटि का होते हुए भी साम्प्रदायिक प्रणाली पर निर्भर करता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता ह कि भक्ति का रस के रूप में इतना प्राबल्य वल्लभ सम्प्रदाय म नहीं मिलेगा जितना चैतन्य में।

भक्तिरस का जैसा विस्तृत विवेचन और निरूपण चैतन्य सम्प्रदाय में हुआ है सभी जानते हैं उतना किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं हुआ। रस पर अत्यन्त सूक्ष्म गम्भीर विवेचन करने वाले और उनकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ इसी सम्प्रदाय की अवधानता में लिखे गये हैं।

बगाल में चैतन्य महाप्रभु से पूर्व सहजिया सम्प्रदाय का भी प्रचार था। सहजिया सम्प्रदाय विविध मतों का मिश्रण होते हुए भी वैष्णव धर्म की राधा-कृष्ण रति पर विशेष केन्द्रित प्रतीत होता है। यह राधा-कृष्ण की रति आध्यात्मिक जगत की वस्तु है परन्तु उसके लिए प्रेम की अत्यन्त तीव्रता की आवश्यकता ह। परकीया प्रेम की तीव्रता के लिए इस प्रेम-योग के लिए यथार्थत एक परकीया-स्त्री या मञ्जरी की आवश्यकता मानी गयी। इस सम्प्रदाय में इसी आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए, परकीया प्रेम को उत्कृष्ट और उत्तेजित करने के लिए काम-शास्त्र आश्रित विविध हार्दिक प्रेम काव्यों का उद्गार हुआ। इसके प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। चण्डीदास और विद्यापति ही

नहीं, जयदेव के वे अमर पद जिन्हें सुनकर चैतन्य महाप्रभु भाव विभोर हो जाते थे सहजिया सम्प्रदाय से प्राप्त उन्मेष से नहीं बच सके हैं। इस प्रान्तीय भाव धारा के फलस्वरूप चैतन्य में हमें यह भावातिशय मिलता है। वल्लभाचार्यजी के प्रचार-क्षेत्र में ऐसा कोई भाव इतना उत्कट नहीं था। अत चैतन्य सम्प्रदाय में गोपीभाव चरित्र का अंग बना वल्लभ में वह साधना का अंग बना।

इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय के निजी स्वरूप और क्षेत्र में वे तत्व प्रस्तुत थे जो भक्त को गोपीरूप में भक्ति के लिए नियोजित करते थे। राधा के महाभाव का अनुभव करने के लिए जिन बारह रस-तरङ्गों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे रस लोक में सहज ही राधा की सखियाँ बन सकती थीं। उस रस में ही शृंगार की रति के परि-पोषण के लिए विविध दास-दासियों और दूतियों की आवश्यकता होती है। इनको ही बङ्गाली वैष्णव सम्प्रदाय न मंजरी नाम दिया, और सहजिया ने वामाचार के लिए इस मंजरी का नाम रूपवाली परकीया-स्त्री बना लिया।

अत वल्लभ सम्प्रदाय में पुरुषों के गोपी नाम रखे जाने से पूर्व यह प्रथा चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित हुई होगी। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने सम्प्रदाय को दृढ़तर बनाने के लिए अपनी बंगाल-यात्रा के बाद इसकी उद्भावना की होगी यही गोकुल-नाथजी से पल्लवित होती हुई हरिरायजी और द्वारिकेशजी के द्वारा पूर्ण हुई। इस सम्प्रदाय के मेधावी नियामकों ने उस रूप को लेकर उसका भावात्मक तत्व तो निकाल दिया साम्प्रदायिक रूप रहने दिया जिससे विविध भक्तों गोसाइयों तथा आचार्य जी में परस्पर आध्यात्मिक सम्बन्ध सहज हो सके और उनके कृत्यों की आध्यात्मिक व्याख्या हो सके।

— ६ —

'अष्टछाप' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वास्तविक साहित्य की सृष्टि उन्नतमना प्रतिभाओं के द्वारा ही होती है। किसी कवि का अध्ययन करते ही हमें इस प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। जहाँ वातावरण में स्वच्छन्दता नहीं वहाँ कवि नहीं पनप सकता। और ऐसा कवि जो युगान्तर उपस्थित करने वाला हो वह तो कभी भी नहीं पनप सकता। किसी के इशारे से काव्य रचना करने वाले कभी उस आदर के पात्र नहीं हो सकते जो सूर और तुलसी को मिला है। शेक्सपीयर मीठी और कड़वी समालोचनाओं के होते हुए भी आज तक संसार को प्रभावित किए हुए हैं। अंग्रेजों के जीवन में शेक्सपीयर और बाइबिल में से किसका अधिक प्रभाव है इसे कौन ठीक-ठीक बता सकता है। धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाने अथवा क्रांति उपस्थित हो जाने पर बाइबिल का महत्व घट अथवा बढ़ सकता है। किन्तु मानव-स्वभाव में जब तक मानवीय स्वभाव रहेगा शेक्सपीयर कभी अरुचिकर नहीं हो सकता। अपनी इतनी नवीनताओं के साथ भी यह नया युग कोई ऐसा साहित्य नहीं रच सका जो शेक्सपीयर को स्थानच्युत कर सके।

सारी भौतिक समृद्धि और वैभव से ऊपर वह कवि है जो स्वतः अमर होकर जातीय चेतना और जातीयता को भी सुरक्षित रख सकता है। ऐसा कवि समय के प्रभाव से साधारण रूप से अछूता रहता है। समय का रंग भी सब काल की वस्तु होकर उपस्थित होता है। अतः सामयिकता भविष्य का इतिहास बन कर और भूत की दिव्य-कल्पना बनकर काव्य में प्रवेश पाती है।

तुलसीदास के रावण में हम मुसल्मानी शासकों को देख सकते हैं। सन्तों को कष्ट देने उनके भाग छीन लेने में हम हिन्दुओं की तत्कालीन दयनीय दशा को पढ़ सकते हैं। 'भगवि, भूमि, भुसुर,

सुरभि, सुर हित लागि कृपाला मुसलमानों के अत्याचारों से कौन पीड़ित न था ? भक्तों को अपनी चिन्ता थी। उनकी आराधना का साकार स्वरूप भीषण गवाओं से छिन्न भिन्न होकर जीवन को सङ्कटापन्न बना रहा था। रोज रोज के राज-परिवर्तन राज-कलह, युद्ध-निमन्त्रण से भूमि की दुदशा थी। उसमें धान्य और शस्य पैदा करने का अवसर ही न था।

प्रजा के लोग मथरा की भाँति यह विचारने लगे थे—

'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी

ब्राह्मणों की वार्तकथा कौन कहे ? उनकी पाठशालाएं नष्ट भ्रष्ट कर दी गयीं। चोरों की भाँति अपने घर ही में उन्हें अपना अध्ययन-अध्यापन करना पड़ता था। गायों की भी कहाँ कुशल थी ? देवताओं के लुप्त होने का भय था।

पीरा पयगवरा दिगंवरा दिखाई देत

इसमें अतिशयोक्ति को कितना स्थान है ? इन सब पंक्तियों में समय का दर्शन है। किन्तु यह शाश्वत की वस्तु होकर आया। कवि किसी वस्तु को सामयिक महत्त्व अथवा किसी प्रेरणामात्र से ग्रहण नहीं करता। फिर मुसलमानी काल के वैष्णवों का वातावरण ही और प्रकार का था। उनसे ऐसी कभी आशङ्का नहीं की जा सकती कि वे कभी किसी के इशारे पर नाचेंगे। फिर विधर्मियों के इशारे पर तो भावना उन्हें एक दम असह्य था।

इतिहास को ठीक न समझ सकने वाले को भ्रम का बहुत अवकाश रहता है। अनेक बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में भ्रम है और यह सब इतिहास का ठीक ज्ञान न होने के कारण है।

यह कहना कि शृङ्गार रस की रचना हिन्दी में अकबर अथवा अन्य किसी राजा या शाहशाह के इशारे के कारण हुई, इतिहास के ककहरे की भी ज्ञान शून्यता बतलायेगा और उसमें भी राजा का कोई राजनीतिक मन्तव्य ढूंढ़ना तो महान् अनर्थ होगा। शृङ्गार रस सूरदास अथवा नन्ददास की कृति नहीं। पुराने भारत में इसका अस्तित्व मिलता है। कालिदास तो अकबर अथवा मुसलमानी काल में नहीं हुए ? शकुन्तला जैसी विशुद्ध प्रेम की दिव्य मूर्ति को शृङ्गार का मूर्त मोहक और नग्न आलम्बन उन्होंने बना लिया सो क्या हिन्दुओं को मुसलमानों का गुलाम बनाने के लिए अथवा उनमें कायरता भरने के लिए ? भवभूति ने मालती

और माधव की कल्पना भी सम्भवतः इसी मन्तव्य से की थी। और आज रवीन्द्रनाथ भी ससार को क्या नपुंसक बनाने का आयोजन कर रहे हैं ?

शृङ्गार रस की रचनाओं का विरोध किसी सिद्धान्त की दृष्टि से करने का सबको अधिकार है किन्तु उसकी रचना करने वाले पर कोई अनुचित दोष लगाना और अप्रामाणिक बात कहना अक्षम्य समझा जाना चाहिए। सूरदास और 'अष्टछाप' के कवियों ने राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में शृङ्गारिक रचनाएं कीं वे रचनाएँ उनकी कवि-कल्पना और धर्म-संदेश की प्रेरणा से थीं। उनमें समय का उतना भी दिग्दर्शन नहीं जितना तुलसीदासजी में। 'अष्टछाप' के कवियों के लिए कृष्ण का कर्ता रूप महत्व नहीं रखता। वे कंस को मारते हैं तथा अन्य राक्षसों को मारते हैं यह उनके काम की चीज नहीं। उनके इस संहारक रूप का भाव उनके उदात्त स्वभाव को बल भले ही प्रदान करता हो परन्तु उनके लिए गौण है। तुलसीदास ने रावण के अत्याचारों और नृशंसता का चित्र खींचा है उसमें कुछ तत्कालीन आभास मिल सकता है किन्तु कंस ने क्या किया इसका वर्णन करने का अवसर सूरदास अथवा 'अष्टछाप' के कवियों को नहीं था। वे तो कृष्ण की लीला को ही अपने सामने रखते हैं। लीला का भी वह भाग जो मधुर और प्रेयस है।

यहीं एक बात का पता लग जाता है कि तुलसीदास के राम मानव-जीवन के आदर्श से बहुत कुछ ऊँचे उठकर आते हैं। वे वन-जङ्गल में भी राजा की तरह विचरते हैं। राम में मानव-जीवन का प्रत्येक पहलू और उसका महत्व हमें मिल सकता है किन्तु उसमें व्यापकता नहीं। कृष्ण हमारे सामने बिल्कुल हमारे होकर आते हैं। उनकी बाललीला को पढ़कर हम अपने बालकों में कृष्ण का अनुभव करने लगते हैं। बड़े होने पर हम अपने हृदय की उद्दाम भावनाओं में राधा-कृष्ण का आकर्षण अनुभव कर सकते हैं। कृष्ण इस प्रकार मानव-जीवन में व्यापक हो गये हैं।

परमानन्ददासजी ने एक पद रचा और उसमें यह चरण रखा—

'परमानन्ददास कौ ठाकुर पिस्लनि लायौ घेरि।'

इसमें निश्चय ही कोई विम्यता अथवा स्वभाव-चित्रण या मार्मिकता न थी। यह पद नष्ट करा दिया गया। परन्तु इससे एक बात कितनी स्पष्ट होती है। अष्टछाप के कवियों का या कितना आग्रह था कि वे जीवन की प्रत्यक प्रक्रिया में उसी भगवा को भर दें। उन्हें चारा भोर उनका सजीव चतुर भौर सजीव कव्य दिखायी पड़ता है। उनकी इस अनन्यता को कोई बुरा बतलाये तो बता सकता है किन्तु यह कहना कि उसमें काव्य की प्रेरणा किसी राजनीति के सूत्र-धार के कारण थी कभी ग्राह्य नहीं है।

मुसलमानों के दरबार से किसी भी अष्टछाप के कवि का सम्बन्ध नहीं रहा था। उन्हें अपने कृष्ण और कीर्तन गान से छुट्टी ही कब थी। कृष्ण का एक क्षण के लिए भी विस्मृत करना उनके लिए पाप था। ऐसा था वैष्णव कवियों का वातावरण। वह अकबर के समय तक बहुत घनिष्ठ हो गया था।

व्यास मिश्र बहलोल लोदी के कृपा पात्र थे। उन्हें चार हजारी का मनसब मिला हुआ था। उनके पुत्र श्री हितहरिवंशजी थे। हितहरिवंशजी बाद में महाप्रभु हुए भौर राधावल्लभीय सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। बहलोल लोदी ने भी हितजी को दरबार में बुलवाया। मन्त्री भेजे गये। मन्त्री ने कहा—हितजी चलिये सुल्तान आपके पिता के गुणों पर मुग्ध हैं वे आपको देखना चाहते हैं। बहुत कुछ देंगे। मन्त्री ने कहा—

कुंअर तुम्हें नृप देखो चाहें। व्यास मिश्र के गुन अवगाहें॥
पट भूषण धन देहैं भली। मनसब लेहु नृपति पै चली॥

हितजी जा सकते थे। उनके द्वारा लोदी कोई राजनैतिक कार्य भी नहीं कराना चाहता था जैसे राजा महाराजाओं को एक धुन होती है ऐसा ही एक धुन बहलोल को हितजी के देखने के लिए उत्पन्न हुई थी। किन्तु एक भक्त के लिए यह बड़ी बात थी। हितजी ने क्या कहा?

कुंवर कही तब मधुरी बानी। काल-ग्रसित सब बिस्व बखानी॥
बहलोल क्यों अस्थिर आनी। नृप सम्पति की कौन कहानी॥

लोदियों के बाद मुगलों का शासन भारत में हुआ। हितजी वाली भावना भौर भी परिपक्व होती जा रही थी। हितजी ने भी

जिस भावना से प्रेरित होकर वह उत्तर दिया था वह उनकी वैयक्तिक धारणा न थी। वह धर्म प्रसूत थी। यह धारणा सभी भगवद् भक्तों में विद्यमान थी। सभी राजा और राजसत्ता से विरक्त थे। अकबर के हृदय में एक धार्मिक जिज्ञासा थी। वह चाहता था कि मैं भारतीय हो जाऊँ। धर्म और साहित्य सभी में वह ऐसी वस्तु की खोज में था जो उसे ठीक मार्ग बता दे। उसने धर्माचार्यों से वार्तालाप किया, उसने सङ्गीतविदों से भेंट की और उन्हें सम्मानित किया। इतिहासज्ञ विद्वान और कवियों से वह सदा घिरा सा रहता था। जिसका भी नाम उसके कान में पड़ जाता था उसको वह बुला भजता था। उसने कुम्भनदासजी को बुलाया, किन्तु वहाँ कौन जाता।

सन्तन कहा सीकरी सौं काम।

आवत जात पनहियाँ टूटीं बिसरि गयो हरि नाम॥

ऐसा स्थल तो त्यागने के योग्य है ही। सूरदासजी का पद उनके सङ्गीतविद होने के कारण विशेष था। सङ्गीत में उनके धतद्ध शिष्य थे। उनके कारण सूरदास की ख्याति फैल रही थी। इन्हें भी अकबर ने बुलवाया। अनिच्छापूर्वक सूरदासजी गये। अकबर प्रसन्न हुआ। उसने कुछ सुनने की अभिलाषा प्रकट की। सूरदास देव, मतिराम, पद्माकर केशव तो थे नहीं। अकबर सम्राट् क्यों, संसार का स्वामी भले हो, उन्हें आतङ्कित नहीं कर सकता था।

ऊधौ और गोपियों के बहाने ज्ञान और भक्ति का जो विवाद भ्रमरगीत में है, उसमें गोपियों से कितने ऊधौ को यह बताते नहीं सुना —

ऊधौ मन नाही दस बीस।

एक हुतो सो गयौ स्याम सँग को आराधै ईस॥

  

और

मधुकर मन तो एकै आहि।

सो तो लै हरि सङ्ग सिधारे जोग सिखावत काहि।

 

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे,

○ ○ ○

जो भक्त गोपियों की तरह अपना मन दे चुका हो जिसके पास अपना कुछ भी न हो वह भला कब किसके प्रभाव में आ सकता है। वह तो अकबर के सामने भी सूरदास की तरह यही कहेगा।

मना रे, तू करि माधव सौं प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू छांड़ि सबै बिपरीत॥
भौंर भोगी बन भ्रमै मोद न मानै ताप॥
सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बंधावै आप॥
सुनु परिमित प्रिय प्रेम की, चातक चितवन पारि।
घन-आशा सब दुख सहै, अन्त न जांचे बारि॥
देखौ करनी कमल की कीनौं जल सौं हेत।
प्राण तज्यौ प्रेम न तज्यौ सूख्यौ सरि समेत॥
मीन बियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहिं रति न घटै तन गात॥
प्रीति परेवा की गिनी चाहैं चढ़न अकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखिए, परत छांडि उर स्वास॥
सुमिर सनेह कुरङ्ग को स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनौ सर सनमुख उर लाग॥

○ ○ ○

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है —

"यह पद देशाधिपति के आगे सम्पूर्ण करिकै सूरदासजी ने गायौ सो यह पद कैसो है जो या पद को अहर्निस ध्यान रहे तो भगवदनुग्रह की सदा सांति रहै और ससार ते सदा बैराग रहै और कुसङ्ग को सदा भय रहै और भगवदीय के सङ्ग की सदा चाह रहै और श्री ठाकुरजी के चरणारविन्द ऊपर सदा स्नेह रहै देहादि के ऊपर आसक्ति न होय। ऐसो पद देशाधिपति को सुनायौ सो सुनिकैं देशाधिपति बहुत प्रसन्न भयौ और कह्यौ जो सूरदास मोकों परमेश्वर ने राज दीनों है सो सब गुनिजन मेरो जस गावत हैं ताते मेरो जस कछू गावौ तब सूरदास ने यह पद गायौ सो पद—

इस पद को सभी जानते हैं।

माहिन रह्यो मन में ठौर।
नन्द नन्दन अछत कैसे आनिये उर और।
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत राति।
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत-उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधो लाख लोभ दिखाइ।
कहा करौं चित प्रेम पूरन घट सिंधु समाइ॥
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदुहास।
सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास॥

इन पंक्तियों का कहने वाला कवि क्या कभी किसी के इशारे पर नाच सकता है? केवल कृष्ण का इशारा उसके लिए है—और किसी की बात में ऐसा व्यक्ति आने का नहीं। सूरदास में हम वही हिलती वाली भावना इस प्रकार प्रतिफलित होते देखते हैं।

कृष्ण मुसलमानों की सृष्टि न थे राम को भी उन्होंने नहीं बनाया था और वैष्णव धर्म के नये उत्थान की प्रस्थानत्रयी का महान स्तम्भ 'भागवत' भी मुसलमान काल से बहुत पहले निर्मित हो चुका था। भक्ति का प्रादुर्भाव वैदिककाल में भी झलकता है। वरुण के सम्बन्ध में लिखी गयी डाक्टर राधाकृष्णन की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'यदि भक्ति का अर्थ हो व्यक्तिमय ईश्वर में श्रद्धा उसके लिए प्रेम, उसकी सेवा में सब कुछ समर्पण और मोक्ष—वैयक्तिक अनुरक्ति से मुक्ति की प्राप्ति तो निश्चय ही ये सभी तत्व हमें वरुण की उपासना में मिलते हैं।

वरुण की व्याख्या करते हुए आगे आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

भक्ति के गौरव से युक्त वैष्णवों और भागवतों का देववाद, पाप की चेतना और दैवी क्षमा विश्वास के साथ-साथ, वरुण की वेदीय उपासना में मिल सकता है।

प्रोफेसर मैकडोनोल्ड का कथन है कि 'वरुण का चरित्र उन्नत कोटि के एकदेवानुवर्ती विश्वास के दिव्य शासक के समकक्ष है।

वरुण की यह भक्ति विष्णु में कैसे परिवर्तित हो गयी, यह भी अथर्ववेद के मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है। इनमें विष्णु और वरुण

को साथ-साथ रखकर फिर दोनों को एक कर दिया गया है ।

यवौ रोप सा स्वभिता रव्यासियौ पीर्येऔर समाध विष्ठा यौ पत्येते ममतीवों सहोभिविष्णुमगन् वरुण पूर्वहूति ७ २१ १

यस्येव प्रदिवि यत् विरोपते प्रवामति विवचष्टे धाचीमि पुरावेमस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुण पूर्वहूति ७-२५ २

राधा का जन्म अष्टछाप से पूर्व हो चुका था । जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में राधा को एक अभूतपूर्व रूप दे दिया था । जब तत्सम सभी सामग्री पहले से उपस्थित थी तब अष्टछाप के कवियों ने अकबरी दरबार के इशारे पर कौनसी घातक रचना रची ? ऐसे भ्रममूलक और निराधार कथनों को हमें प्रश्रय न देना चाहिये । यह उन कवियों के साथ अत्याचार है जो ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देने नहीं आ सकते । हम उनकी शृङ्गारिक रचनाओं को घातक समझते रहें यह उनकी रचना को अपनी दृष्टि से तौलना है इसका प्रत्यक को अपनी धारणा के अनुकूल अधिकार है । किन्तु किसी तथ्य को कुछ का कुछ रूप देकर प्रस्तुत करना और इस प्रकार निराधार गपोड़े के सहारे किसी के प्रति घृणा फैलाने का कार्य असभ्य और गर्हित समझा जाना चाहिए ।

अष्टछाप और सूरदास पर अकबरी दरबार के इशारे पर कर्म करने के दोष की कल्पना एक और बात पर आश्रित हो सकती है । सूरदास अकबर के दरबार में गये थे । इसका प्रमाण चौरासी वैष्णवों की वार्ता से भी मिलता है—और इसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है जितना कि महात्मा गांधी का सम्राट जार्ज पंचम से मिलने का । क्या वे सम्राट के इशारे पर अपने कार्य कर रहे थे ? ऐसा सोचना हमारी युक्तिमत्ता का दिवाला ही सूचित करेगा । सूरदासजी अकबरी दरबार से प्रतिष्ठित रामदास के पुत्र थे अथवा नहीं यह प्रश्न अभी विचारणीय ही है । इस पर विचार तो फिर कभी किया जायगा । किन्तु इसके होते हुए भी सूरदास की जिस मन स्थिति का चित्र ऊपर दिया गया है उसमें वे दरबार से प्रभावित होने वाले कभी नहीं कहे जा सकते । हितहरिवंशजी के पिता भी बहलोल सादी द्वारा सम्मानित थे । उनकी प्रतिष्ठा भी उनके यहाँ थी फिर भी हितहरिवंश पर उसका कुछ प्रभाव ही पड़ा । प्रतिभा अपनी रचना के लिए अपने अन्दर ही रस प्राप्त

करती है। बाह्य जगत अपनी सारी सत्ता के साथ प्रतिभा में पच कर समय, समाज अथवा नीति के प्रभाव से मुक्त होकर अमर और अलौकिक वस्तु बनकर निकलता है। सूरदास और अष्टछाप की रचनाओं में जिन मनोरम भावों और कल्पनाओं का भण्डार है मनुष्यों के लिए कभी अहितकर न है न हो सकता है।

अष्टछाप में सूरदास

अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है। इसीलिए इसकी छाप हिन्दी पर बहुत गहरी है। यह अष्टछाप ही है जिसमें साम्प्रदायिक भूमिका पर शुद्ध मानव का महान कवित्व, कला का उदय उत्कर्ष, और ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ शाश्वत शिवत्व का अर्चन सभी कुछ तो हिन्दी में सम्भव और सिद्ध हुआ है। गोस्वामी विट्ठलनाथ की उस महान प्रतिभा को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनी पड़ती है जिसने अष्टछाप के महान भाव की उद्भावना की और जिसने उस अष्टछाप में सूरदास जैसे महाकवि को शिरोमणि स्थान दिया था।

सूरदास महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक हैं। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय है। सूरदासजी गऊघाट पर रहते थे। यह स्थान आगरा-मथुरा के बीच रेणुका-क्षेत्र के पास है। सूरदास सङ्गीत विद्या में पटु थे। उनके शिष्य भी शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहीं गौघाट पर इन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया। ये महाप्रभु के साथ गोवर्द्धन गये और वहीं परासौली अथवा चन्द्र सरोवर में रहने लगे। महाप्रभु ने इन्हें श्रीनाथजी का प्रधान कीर्तनियाँ बनाया। अब सूरदासजी नित्य नवीन पदों की रचना कर मन्दिर में कीर्तन करते थे।

वल्लभाचार्यजी की मृत्यु के उपरान्त गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने सम्प्रदाय के आठ महाकवियों की एक अष्टछाप बनायी और उसमें सूरदास को प्रधान स्थान दिया। सूरदास ने सूरसागर की रचना की। इनकी मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथजी की उपस्थिति में चन्द्र सरोवर में हुई।

ये महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। अतः इनका जन्म वैशाख शुक्ल ५ मङ्गलवार सं० १५३५ को हुआ।

सूरदास के जीवन वृत्त सम्बन्धी अन्य बातें अभी विवादास्पद हैं। विद्वान लोग खोज कर रहे हैं। विवादास्पद बातों में वृत्त का यह भाग आता है —

सूरदासजी का जन्म सीही में हुआ या अन्यत्र ? सूरदास जन्मान्ध थे या नहीं ? सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व किसके शिष्य थे ? सूरदास भाट थ या सारस्वत ब्राह्मण या जाट या ढाढ़ी ? सूरदास की भेंट अकबर से कब और कहाँ हुई ? सूरदासजी ने अपना घर क्यों छोड़ा कब छोड़ा ? गौघाट पर क्यों आकर बसे ? सूरदास के नाम से जो अन्य ग्रन्थ प्रचलित हैं सूर सारावली, साहित्य लहरी भागवत भाषा सूर रामायण आदि वे कितने रचे हैं ? उन्होंने एक लाख पद लिखे अथवा कम ?

सूरदास का जीवन वृत्त कितना ही अनिश्चित रहे उनका महाकाव्यत्व सुनिश्चित है। उनके काव्य में युग और युग-युग दोनों की प्रतिमा का समावेश है। युग प्रतिमा सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहित्य प्रस्तुत करती है। सूरदास का जन्म उस युग और उस काल में हुआ था जिसमें भारत से जातीय जीवन के प्रदीप का स्नेह समाप्त हो चला था। पाँच शताब्दियों का भीषण संघर्ष उसमें जीवन के प्रकाश को अपने सांस्कृतिक स्वरूप को और अपने जीवन के गौरव को दृढ़ और उत्थित रखने में वैफल्य। ऐसी अवस्था में क्या हो ? दुःख, वेदना और विरक्ति ही जातीय जीवन की मनोवृत्ति के मर्म थे।

कोदों समा जुरतौ भरि पेट तो माँगती हौं नहीं दूध मिठौती
तथा
जा घर ते कबहूँ न गयौ पिउ फूटो तवा और टूटी कठौती

यह नरोत्तम कवि के शब्दों में सुदामा-पत्नी की ही पुकार नहीं थी, भारतीय जन का यही स्वरूप था—

सीस पगा न झगा तन में और पाँय उपानह की नहिं सामा।

ऐसी दुरवस्था के साथ भारतीय जीवन निर्वीर्य हो निराश हो, विरक्ति की अभिव्यक्ति तुलसी की मन्थरा के शब्दों में यों करता था—कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि का होउब रानी।

इन मनोवृत्तियों के मूल में ऐतिहासिक कारणों के निरूपण

की आवश्यकता है। सूरदास के समय की परीक्षा से हमें जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष और बाह्य संघर्ष दोनों का जो रूप प्राप्त होता है वह यह है—

जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष में हमें सबसे प्रमुख मायावाद का मोर्चा मिलता है। शंकर मताश्रित अद्वैतवाद ने विश्व को माया से मिथ्या बना दिया था। उनके उपरान्त जितने भी सम्प्रदाय आत्म-कल्याण के लिए प्रचलित हुए उनमें जगत मिथ्या का सिद्धान्त अति प्रबल था। योगी, नाथ ज्ञानवादी सभी संसार त्याग और मिथ्यात्व का सन्देश सुना रहे थे। कबीर के ये शब्द इस युग के लगभग चार शताब्दियों के गम्भीर युग के शब्द हैं—

माया महा ठगिनि हम जानी।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी जिस क्रान्ति के एक प्रचेता हैं वह क्रान्ति मायावाद विरोधिनी थी माया विरोधिनी नहीं। वल्लभाचार्यजी ने अपनी दिग्विजय में शक्ति, माया और वेदान्ती शंकर माया का ही खण्डन कर मिथ्यात्व को धराशायी किया था। जगत की यथार्थता का प्रतिपादन कर इस जीवन में आस्था पैदा करना उनका धर्म था।

उस काल से सूर ने लीला के रस का प्रवाह बहाकर मिथ्यात्व की ओर से ध्यान हटा दिया।

माया के इसी मिथ्या स्वरूप के साथ सगुण और निर्गुण का प्रश्न जुड़ा हुआ था। साहित्य में सूर से पूर्व निर्गुण की प्रतिष्ठा बड़े प्रयत्न और बल से की गयी थी। अविगत अलख, अरूप, अनाम निराकार को लेकर सन्त और सूफियों ने अपनी वाणी के रस से तान-तम्बूरे की खनक के साथ पदों का संगीत जन-जन में भर दिया था। इस निर्गुण का लेकर कबीर प्रमुख सन्तों ने राजनीतिक संघर्ष को भी सुलझाना चाहा था पर राजनीतिक समस्या में सांस्कृतिक और धार्मिक गुत्थियाँ थीं। वह यों क्यों सुलझता! तभी मिथ्यात्व के विरोध के साथ इस निराकार का भी विरोध हुआ। सूर ने गाया —

अविगत गति कुछ कहत न आवै,
ज्यों गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरगति ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै॥

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब विधि अगम बिचारहिं तासों सूर सगुण लीला पद गावै ।।

मिथ्यावाद और निर्गुणोपासना के ज्ञानवाद ने जातीय जीवन की जड़ को ही सुखा दिया था । साधारण जन को ब्रह्म-प्राप्ति तो दूर अपनी असमर्थता से मुक्ति प्राप्ति का भी अधिकार नहीं रह गया था । ज्ञान की कुटिल और जटिल पगडंडियों में चले बिना मुक्ति भी असम्भव और भक्ति भी असम्भव । जन जीवन की छटपटाहट और निर्जीव पशुता उस समय और भी भीषण और क्रूर हो जाती है जब ऐतिहासिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी अवसाद हो । कबीर ने घट घट में मन्दिर स्थापित करने की चेष्टा की पर वहाँ उनके देवता की मूर्ति न बैठ पायी । निराकार के आधार पर एक छाया वहाँ जन-मानस में छा गयी । सूर की वाणी इस परिस्थितियों के व्यंग्य को सहन न कर सकी और वह विकल होकर साकार कृष्ण और उसकी लीलाओं को उतार लायी । अब घर घर में कृष्ण की रुन झुन रुन झुन सुनायी पड़ने लगी और कृष्ण घर घर में क्रीड़ा करते दिखायी पड़ने लगे ।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत
मनिमय कनक नन्द के आँगन बिम्ब पकरिबे धावत ।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कों कर सों पकरन चाहत ।
किलकि हँसति राजति द्वै दँतियाँ पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।।
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत ।
करि-करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत ।।
बाल दसा सुख निरखि जसोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावत ।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु को दूध पियावत ।

महाकवि अपने महाकाव्य में अत्यन्त साधारण सामग्री को साधारण शब्दों के द्वारा ही अपनी कला द्वारा महत्ता प्रदान करता है । साधारण बालक की क्रीड़ाओं को लेकर उनमें कृष्ण की आत्मा सूर ने प्रतिष्ठित कर दी है । बालक की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाएँ उसके मनोभाव उसके प्रति वात्सल्य भवना मार्मिक और विशद चित्र हमारे मानस में प्रतिफलित होने लगता है । उनके काव्य ने फिर जन-जन के घर में प्रवेश कर प्रत्येक बालक को कृष्ण बना दिया । जिस तान-तँबूरे की ध्वनि कुछ समय पूर्व निर्गुण निराकार के स्वर सुनाती थी उसी में साकार कृष्ण की ललित क्रीड़ाएँ

प्रतिध्वनित हो उठीं और उनकी मादक मुरली की ध्वनि गूँजने लगी ।

कृष्ण को लेकर इस महाकवि ने लौकिक में अलौकिक की स्थापना कर दी और युग की दृष्टि से एक महान् हल प्रस्तुत कर दिया । आशा का इतना महान् उत्साह उसने काव्य में भर दिया कि जन-जन की मुक्ति का मर्म दिखायी पड़ने लगा । यहीं सूर के काव्य में युग-युग का संदेश भी समा गया ।

सूर ने पहले ही बालकृष्ण की चपल क्रीड़ाएँ हमें दिखायीं । उनका विशद रूप प्रस्तुत किया । उन्हें सजाव बनाया और उनमें हमारी मनोवृत्ति रमायी फिर धीरे-धीरे वे लीलाएँ प्रेम की माधुरी से अभिमंडित होने लगीं । कृष्ण की मुरली से सृष्टि के अमर प्रेम का सबल सङ्गीत हठात् स्फुरित हो उठा—

बंसी बन कान्ह बजावत ।
आइ सुनी स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत ।।
सुर श्रुति ताल बंधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत
जनु जुग जुरि वर बेद सुजस मधि बदन पयोधि अमृत उपजावत
मनो मोहिनी भेष धरे हरि मुरली मोहन मुख मधु प्यावत
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधा रस मदन जगावत
महा मनोहर नाद सूर थिर चर मोह मिलि मरम न पावत ।
मानहुँ मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख सीस डुलावत ।।

यह बंसी रस किसे विमोहित करने की सामर्थ्य नहीं रखता । गोपियाँ मुग्ध हुईं विवश हुईं और प्रेम में गहरी उतर गयी । इस कृष्ण-गोपी प्रेम के संयोग पक्ष का चरमोत्कर्ष रास में हुआ —

शरद ऋतु की पूर्णिमा

आजु निसि शोभित शरद सुहाई ।
शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई ।।
यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि मंडली बनाई ।
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुंवर कन्हाई ।।

और रास रचा गया । रास के वर्णन में कवि की अनुभूति का उत्कर्ष कितना महान हुआ है—

बिराजत मोहन मंडल रास,

स्यामा सुधा सरोवर मानों क्रीड़त विविध विलास ।
मृदु पदन्यास मन्द मलयानिल विगलित सीस निचोल ।।
नील पीत सित असित च्यलांचल सीर समीर झकोल
विपुल पुलक कचुकि बँद छूटे हृदय अनन्द भये ।
कुच युग चक्रवाक अवनी तजि अन्तर रैनि गये ।
दसन कुन्द दाडिम द्युति दामिनि प्रगटत ज्यों दुरि जात
अधर बिम्ब मधु अमी जलद कन प्रीतम वदन समात ।
मिले कुसुम कबरी केसम ते टूटत हैं उडु हार
सरद जलद मनु मन्द किरन कन कहूँ-कहूँ जल धार ।

इन चरणों में शब्द और अर्थ की कसी सुन्दर सार्थकता है। अलङ्कारों का उपयोग भावों को और चित्र को कितना उज्ज्वल बना रहा है।

राधा और कृष्ण के प्रेम की विमोरता-पूर्ण ऐन्द्रिक गरिमा आह्लाद-मादकता और गति तथा तादात्म्य के साथ रास में परिपूर्णता पर पहुँच गयी है और यहीं कृष्ण ब्रज छोड़ गये। प्रेम के अगाध सागर में एक तूफान आया और फिर असह्य गम्भीरता। भ्रमरगीत में विरहिन गोपियों के प्रेम की थाह नहीं मिलती। निर्गुण और सगुण के दार्शनिक विवाद का भी ऐसा मार्मिक सरस और जीवनमय प्रतिपादन हो सकता है इसकी कल्पना भी सूरदास के भ्रमरगीत का आनन्द लिये बिना नहीं हो सकती। विरह की टीस हृदय की हूक विकल प्राणों की पुकार जैसे शब्द-शब्द में बिंधी हुई हो। गोपियाँ मधुकर को लक्ष्य कर कितने विषादपूर्ण शब्दों में अपनी विवशता, ग्लानि और अपने अभाग्य को प्रस्तुत कर रही हैं—

मधुकर मो मन अधिक कठोर
बिनसि न गयौ कुम्भ काचे ज्यों बिछुरत नन्द किसोर
प्रेम बनिज कीन्हों हुतौ नेह नफा जिय जानि
ऊधौ अब उल्टी भई प्रान पूंजि में हानि ।
जो हम प्रीति रीति नहीं जानति तौ व्रजराज तजी ।
हमरे प्रेम नम से ऊधौ मिलि रस रीति सजी
हम ते भली जलचरी अपनौ नम निबाह्यौ
जलते बिछुरि तुरत तन त्यागी सउ कुल जल की चाह्यौ
अचरज एक भयौ सुनि ऊधौ जल बिन मीन रह्यौ

सूरदास प्रभु अवधि आस लगि मन बिस्वास गह्यौ ।

रुदन का काव्य विश्व में अनेक कवियों ने लिखा है। हिन्दी में भी इसकी एक दीर्घ परम्परा है। इस परम्परा में आधुनिक 'साकेत' 'यशोधरा' 'प्रिय प्रवास' आदि आते हैं पर सूर का भ्रमरगीत काव्य की महत्ता में सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों के चित्र देने में और व्यंग्य वाग्वैदग्ध्य में अद्वितीय है। कृष्ण गोपियों को फिर नहीं मिले—उनका विरह अनन्त हो गया तो क्या वे किसी और का अपना लें? नहीं!

ऊधो मन न भये दस बीस

एक हुतो सो गयो स्याम सङ्ग को आराधै ईस ।

कृष्ण बाहर नहीं मिल सकते तो मन में तो वे हैं हीं। साकार को सगुण रखते हुए भी कवि ने उसे किस प्रकार मानस का आत्म-तत्त्व बना दिया है। इसमें युग और युग-युग का कैसा अद्भुत समन्वय है।

सूर ने काव्य में जीवन के अन्तर-मर्म का स्पर्श किया है। उनके काव्य को आलोचकों ने लोकरंजनकारी साहित्य में परिगणित किया है। पर क्या ऐसा कहना समुचित है? क्या यह सूर के काव्य के यथार्थ अर्थ और महत्व को समझ कर कहा जा सकता है? मन के प्रबलतम तत्त्व प्रेम को सूर ने ग्रहण किया। उसकी तीव्र अनुभूतियों को उसने मूर्त रूप दिया। मनोविश्लेषण प्रतिपादित अवचेतन मानस की ग्रन्थियों को उसने प्रमाणित करने की सघमत चष्टा की युग चक्र से निगथ मानव में पुन आस्था स्थापित की कृष्ण के क्रान्तिकारी चरित्र का काव्य में अभिनिवेश किया यह सब किस लिए किया गया? यथार्थत इस समस्त काव्य में आतीय जीवन के लिए एक महान सन्देश निहित था देश-काल-जाति के लिए ही नहीं मानव मात्र के लिए। विश्व साहित्य में एक देन सूर का यह सूरसागर है जिसे पढ़कर यही कहना पड़ता है

कियौं सूर को सर लग्यौ तन मन धुनत सरीर।

सूर के जीवन-वृत्त की कुछ चर्चा

महाकवि सूरदास के जीवन-वृत पर इधर कुछ चर्चाएँ हुई हैं। उन चर्चाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में अभी शोध की बहुत आवश्यकता है। यहाँ पर किसी नयी शोध का चर्चा करना अभीष्ट नहीं यहाँ तो केवल उनके जीवन-वृत्त विषयक कुछ प्रश्नों पर संक्षेप में कुछ विचार दिये जा रहे हैं जिससे आगे के अनुसंधान के लिये ध्यान आकर्षित हो।

जन्म स्थान-सीही

सूर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किय गये हैं
१—आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर

पुत्र जनमे सात ताके महाभट गम्भीर
कृष्णचन्द उदारचन्द जो रूपचन्द सुभाइ।

बुद्धिचन्द प्रकास चौथो चन्द भौ सुखदाइ
देवचन्द प्रबोध, संमृत चद ताको नाम,

भयो सप्तो नाम सूर म चन्द मद निकाम।

—साहित्य-लहरी

इससे सूरदासजी का जन्म आगरा के किसी 'गोपचल" में हुआ।

२—"मथुरा प्रान्त विप्रवर गेहा"

'भक्त विनोद मियाँसिंह-कृत।

३—सीही (दिल्ली के पास) हरिरायजी का भावप्रकाश।

४—सीही (मथुरा) श्री राधाकृष्णदास।

५—कलकत्ता में एक कोठी आपकी यादगार है, जहाँ सूरदास ने सूरसागर लिखा—मौलाना निजामुल्ला दहामी तथा—बाबू

श्यामसुन्दरदास और डा० मुन्शीराम शर्मा, मुन्शीराम शर्मा रुनकता और गोपचल तथा गौघाट को एक ही मानते हैं। अत तीन ही मत प्रमुख हुए—

१—रुनकता (गोपचल) गौघाट।

२—मथुरा।

३—सीही (दिल्ली वाली या मथुरा वाली)।

पहले स्थान पर विचार करते ही यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या रुनकता, गोपचल और गौघाट एक ही हैं? रुनकता और गौघाट बिल्कुल पास-पास हैं रुनकता गाँव से रेणुका-क्षेत्र मील डेढ़ मील के लगभग होगा और रेणुका-क्षेत्र से गौघाट मथुरा की ओर यमुना किनारे एक मील के लगभग किन्तु क्या गौघाट और गोपचल एक हो सकते हैं? गोपाचल शब्द भाषा-विज्ञान के किसी भी नियम से गौघाट नहीं बन सकता। हाँ, हो सकता है उस काल में गौघाट का दूसरा नाम गोपचल रहा हो किन्तु इसका इतिहास से अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। गौघाट या गऊघाट का उल्लेख मुस्लिम इतिहासकारों तथा विदेशी यात्रियों ने किया है। आगरा में कोई गोपाचल कभी या आज तक विदित नहीं। फलत यह गोपाचल न तो आगरा में है और न यह गऊघाट ही हो सकता है।

और जिस पद में गोपाचल आया है उसके गलत अर्थ करने वालों को जो दिक्षाएँ* (भर्त्सनाएँ छोड़ दीजिए) गोपाचल को गौघाट मानने वाले विद्वान देते हैं, उन्हीं के आधार पर यदि इस पंक्ति का अर्थ भी करते तो 'गोपाचल' आगरा में नहीं आ पाता। अर्थ स्पष्ट है—आगरे में रहकर उसका पुत्र वीर गोपाचल में रहा। आगरे के उपरान्त 'रहि' पूर्वकालिक क्रिया है जो रह्यो समापिका क्रिया के पूर्व आकर आगरा से भिन्न किसी गोपाचल की सूचना देती है। फलत यह गोपाचल प्रसिद्ध ग्वालियर है, जिसके सम्बन्ध में ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं कि ग्वालियर ही गोपाचल है।

तब क्या सूरदासजी 'गोपाचल' अथवा ग्वालियर में पैदा

---

*लेखक के अभिप्राय को समझने के लिए योग्यता, आकांक्षा, आसक्ति और तात्पर्य चार बातों की परम आवश्यकता होती है।

हुए थे ? जो विद्वान 'आईने अकबरी' के ग्वालियर-निवासी रामदास बैरागी के पुत्र सूरदास को महाकवि सूरदास मानते हैं, उनके लिए 'आईने-अकबरी' की बहिर्साक्ष्य के लिए यह पद 'अन्त साक्ष्य' का काम दे रहा है। तब सूरदास को अकबर का दरबारी कवि मानना पड़ेगा, जो असम्भव है। सूरदास का समस्त जीवन ही दूसरे प्रकार का था, फिर गौघाट पर 'स्वामी' की भाँति रहना और तदनंतर श्रीनाथजी का कीर्तन करने में जीवन लगा देना दरबारी कवि के लिए सम्भव नहीं था। एक विद्वान ने सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र और रामदास मानकर उन्हीं सूरदास के पिता रामदास को अकबर का दरबारी तो माना है पर सूरदास के सम्बन्ध में यह लिखा है–

'मुसलमानी लेखकों ने अकबाला बाबा रामदास के साथ उनके पुत्र सूरदास को भी मुगल दरबार में पहुँचा दिया है परन्तु यह मिथ्या जान पड़ता है। क्यों मिथ्या जान पड़ता है? इसके लिए युक्ति-युक्त प्रमाण नहीं दिए गये। सूरदास को बाबा रामदास के साथ अकबर के दरबार में पहुँचाने की धृष्टता किसी ऐसे-वैसे मुसलमानी लेखक ने नहीं की। यह उल्लेख स्वयं 'अबुलफजल' ने किया है उसका उल्लेख प्रामाणिक से भी अधिक प्रामाणिक है.। तब ये महाकवि और भक्त सूरदास ग्वालियर निवासी बाबा रामदास के पुत्र सूरदास से भिन्न ही ठहरते हैं— फलतः इन सूरदास का जन्म गोपाचल या ग्वालियर में नहीं हुआ।

वास्तविक बात तो यह है कि साहित्य-लहरी के जिस पद को यह महत्व मिला है वह पद ही इस महत्व का अधिकारी नहीं। प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक है, क्योंकि —

१—इसमें किये गये उल्लेख इतिहास-सिद्ध नहीं।

२—यह साहित्य-लहरी में ग्रन्थ की स्वाभाविक पुष्पिका के उपरान्त दिया हुआ है जिससे यह सिद्ध है कि यह बाद में जोड़ा गया है।

३—सूरदास की प्रकृति के नितान्त विरुद्ध है, कभी इतना स्पष्ट कथन अपने सम्बन्ध में सूरदास ने किया ही नहीं। (विशेष देखिये—डा० ब्रजेश्वर वर्मा सूरदास प्रभुदयाल मीतल तथा पारीख—सूर निर्णय।) डा० ब्रजेश्वर वर्मा समस्त 'साहित्य,

लहरी' को ही किसी दूसरे सूरदास की रचना मानते हैं। 'मथुरा' को जन्म-स्थान 'भक्त विनोद' के लेखक मियांसिंह ने बताया है। मियांसिंह का प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। मथुरा के सम्बन्ध में और कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। एक 'सीही' को मथुरा स्थित माना गया है इस सीही में पैदा होने से सूरदास मथुरा प्रान्त के हो सकते हैं पर मथुरा प्रान्त में 'सीही' नाम का गांव है ही नहीं, सेई, आदि हैं।

दिल्ली के पास वाली 'सीही' ही सूरदास का जन्मस्थान है। हरिरायजी पुष्टिमार्ग के प्रामाणिक लेखक हैं उन्होंने वार्ताओं का सम्पादन किया और उनपर भावप्रकाश लिखा इस भाव प्रकाश में उन्होंने ये सूचनाएँ दी हैं जो मूल वार्ता में नहीं हैं। ये सूचानाएँ हरिरायजी को या तो सम्प्रदाय में प्रचलित वस्त कथाओं से मिली होंगी या उनके अनुसन्धान का परिणाम होंगी— दोनों ही दशाओं में निराधार नहीं हो सकतीं। और जब तब अन्य कोई बाह्य-अन्त साक्ष्य से पुष्ट अन्य स्थान उद्घाटित नहीं होता यह दिल्ली वाली 'सीही' ही सूर का जन्मस्थान रहेगी। यह 'सीही' बल्लभगढ़ स्टेशन के पास है। यहां जन्मेजय के नागयज्ञ के अवशेष भी प्राप्त होते हैं। इस सीही का उल्लेख अकबर कालीन ऐतिहासिक प्रमाणों में भी मिलता है।

पिता का नाम

पिता के नाम के सम्बन्ध में भी पहली साक्षी 'साहित्य-लहरी' का उपरोक्त पद ही है जिसमें आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत बीर" के द्वारा पद रचयिता ने अपने पिता का भी परिचय दिया है। दूसरा साक्ष्य उपर्युक्त 'आईने अकबरी' है। तीसरा साक्ष्य नानूराम भट्ट से प्राप्त वंशावली है। साहित्य-लहरी के पद में दी हुई वंशावली और नानूराम भट्ट से प्राप्त वंशावली में अंतर होते हुए भी पर्याप्त साम्य है। 'साहित्य-लहरी' में ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदासजी ने अपने पिता का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु नानूराम भट्ट की वंशावली में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है—इस नाम को प्रामाणिक मानकर एक विद्वान ने लिखा है —

'हरिचन्द पद के अनुसार सूर के पितामह थे। परन्तु खेद है, सूर इस पद में अपने पिता का नाम निर्देश न कर सके। अपने

पिता को वे केवल 'वीर' विशेषण से सम्बोधित करते हैं। पण्डित नानूराम भट्ट से प्राप्त हुई वंशावली के आधार पर महामहोपाध्याय पण्डित हरिप्रसादजी शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है, जो भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र ही हैं। सूर के पिता का नाम भी यही था। पर पद में नाम का न आना खटकता है—इसमें कोई न कोई रहस्य अवश्य अन्तर्हित है और आपकी सम्मति में वह रहस्य यह है कि सूर के पिता 'वृद्धावस्था में नैराश्य से घिरे हुए, पुत्र शोक से विह्वल कहीं दरबारी मुसाहिब बने काल-यापन कर रहे हैं।

निश्चय ही इस कथन का संकेत उस बाबा रामदास की ओर है जिसका उल्लेख 'आईन अकबरी' में हुआ है। 'आईन अकबरी' एक प्रकार से अकबर के राज्य के तथ्यों का संकलन है। बाबा रामदास 'आईने अकबरी' के अनुसार यदि अकबरी दरबार के गायक थे अकबर के मुसाहिब थे तो उसी साक्ष्य और प्रमाण से सूरदास भी थे। एक को तो मान्य समझना दूसरे को अमान्य समझना ठीक नहीं। फलतः यह सूरदास और रामदास कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं सूरदास ने अपने पिता की वीरता का स्मरण किया है, 'आइन अकबरी' में वह गायक है, प्रतीत तो यह होता है कि पद के सूरदास के पिता आईने अकबरी के रामदास से भी भिन्न हैं। इनमें से किसी भी रामदास का महाकवि सूरदास के पिता से कोई सम्बन्ध नहीं। नानूराम भट्ट की वंशावली विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। फिर उस वंशावली का रामचन्द्र ही रामदास है यह तो अनुमान ही है। नानूराम भट्ट की वंशावली की शरण इस कारण ली जाती है कि सूरदास ने उक्त पद में पिता का नाम नहीं लिखा किन्तु योग्यता आकांक्षा आसत्ति आदि से पद पर ध्यान देने से स्पष्ट लक्षित होता है कि 'वीर' शब्द गुणवाचक नहीं वरन् व्यक्तिवाचक है—स्पष्टतः अर्थ है उसका लड़का 'वीर'—'ता सुत वीर' फलतः उक्त पद के अनुसार तो सूर के पिता का नाम तो 'वीरचन्द' था और वीर को रामचन्द्र में परिणत करने की योजना नानूराम भट्ट और 'आईने अकबरी' से मिलान के लिए ही गढ़ी दिखायी पड़ती है किन्तु साहित्य-लहरी के पद की अप्रामाणिकता के कारण यह समस्त गढ़ ढहा ढह जाता है—और सूरदास के पिता का नाम अज्ञात ही रह जाता है। केवल इतना

ही शेष रहता है कि सूरदास के पिता थे।

जन्म-तिथि—सं० १५३५ वैशाख शुक्ल ५

सामग्री—सूरदास की जन्मतिथि को निश्चय करने के लिए उपलब्ध सामग्री निम्नलिखित हो सकती है—

१ तथाकथित अन्तर्साक्षियाँ—

१—'सूर सारावली' में—

गुरु परसाद होत यह दरसन,
सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कियो बहुत
दिन तऊ पार नहिं लीन॥

२—'साहित्य-लहरी' में—

मुनि पुनि रसन के रस लेख,
दसन गौरी नंद को लिखि सुवल संवत पेख।
नंद-नंदन मास छै ते हीन तृतीया बार,
नंद-नंदन जनमते हैं बाम सुख आगार।
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग बिचारि सूर नवीन,
नंद-नंदन दास हित साहित्य-लहरी कीन।

ये दोनों ही जन्मतिथि के निर्धारण में कोई सहायता नहीं पहुँचातीं एक तो दोनों ही रचनाओं के सूरदास कृत होने में सन्देह है। दूसरे इन दोनों के अर्थ इतने विवादास्पद हैं कि किसी भी एक अर्थ को ग्रहण करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। तीसर दोनों में ही सूर के जन्म की तिथि का उल्लेख नहीं। पहले किसी 'दरसन' होने की घटना के समय सरसठ वर्ष का उल्लेख है, तो दूसरे में साहित्य-लहरी के निर्माण का संवत् है। इन कारणों से इनके द्वारा जन्मतिथि के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती।

२. बहिर्साक्ष्य

बहिर्साक्ष्य में केवल पुष्टि सम्प्रदाय में प्रचलित मान्यता और उसी सम्प्रदायानुयायी कुछ लेखकों के लेख ही महत्वपूर्ण हैं।

पुष्टि-सम्प्रदाय में मान्यता है कि सूरदासजी आचार्य महाप्रभु से १० दिन छोटे थे। 'निजवार्ता' में इसका स्पष्ट उल्लेख भी है "सो श्री आचार्यजी सों दिन दस छोटे हुते। अन्य भक्तों व लेखकों में से इस बात का उल्लेख श्री द्वारिकादास श्री रसिकलाल श्री यमुनादास आदि ने किया है। सम्प्रदाय में इस मान्यता का आधार क्या है, वह हमें विदित नहीं। साम्प्रदायिक मान्यता निराधार भी नहीं मानी जा सकती। गोकुलनाथजी की तो सूरदास से घनिष्ठता थी—'निजवार्ता' गोकुलनाथजी ने ही कही है। अत समस्त बहिर्साक्ष्यों में इसी साक्षी को महत्व दिया जा सकता है।

आचार्य महाप्रभु का जन्म एक वर्ग के विश्वास के अनुसार स० १५३५ वैशाख कृष्ण १५ रविवार को हुआ था। फलत सूरदास का जन्म स० १५३५ में वैशाख शुक्ल ५ को मानना होगा।

किन्तु आचार्यजी के जन्म-संवत् के सम्बन्ध में एक दूसरे पक्ष का कहना है कि वह १५३० है। बड़ौदा कॉलेज के प्रो० भट्ट ने इसे साक्षियों और प्रमाणों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से सूर का जन्म भी १५३०में मानना पड़ेगा। यह आवश्यक है कि प्रो०भट्ट के तर्कों और प्रमाणों का भलीभाँति परीक्षण कर लिया जाय और यह भी देखा जाय कि सम्प्रदाय का एक बड़ा भाग क्यों १५३५ संवत् स्वीकार करता है। दोनों ही पक्षों की समीचीन परीक्षा के उपरान्त ही जन्म तिथि का यथार्थ निर्णय हो सकता है। सम्प्रदाय के लोग तर्कों को तर्क ही मानते हैं और आचार्यजी के जन्म के सम्बन्ध में १५३५ को ही विश्वास के साथ मान्यता प्रदान करते हैं।

वंश निर्णय—

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सूरदास किस वंश के थे। इस सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य की दृष्टि से 'साहित्य-लहरी' का वह पद प्रस्तुत किया जाता है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अनुसार सूरदासजी चन्दबरदाई के वंशज हैं। इस आधार से सूरदास 'ब्रह्म भट्ट' माने जाने चाहिये। वे ब्रह्म भट्ट ही थे यह श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' जी ने १९३७ ई० में प्रकाशित 'मिश्रबन्धु प्रलाप' प्रथम भाग में स्थापित किया था। बेताबजी द्वारा दिये मत को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए,

किन्तु वेताबजी का नाम न देते हुए 'भट्ट' का विशेष अर्थ 'ब्राह्मण' अनेक युक्ति प्रमाणों से एक विद्वान ने सिद्ध किया है। 'भट्ट' को उन्होंने 'जगा' से भिन्न स्वीकार किया है—जगा, परिया वैतालिक आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु 'साहित्य-लहरी' का यह पद प्रामाणिक नहीं माना जाता फलतः उसके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष भी मान्य नहीं हो सकते।

तब सूरसागर में कुछ ऐसे पद हैं जिनमें जाति का संकेत प्रतीत होता है—इसमें पहिले दृष्टि 'ढाढ़ी' विषयक पदों पर जाती है —

(नंदजू) मेरे मन आनन्द भयो,
मैं गोवर्धन तैं आयो।
हौं तौ तेरे घर को ढाढ़ी,
सूरदास मोहिं नाऊं ॥ ६५३

इससे ऐसा लक्षित होता है कि सूरदास 'ढाढ़ी' थे और यह पद इस प्रकार सूरदास के जगा या भाट होने के उपयुक्त मत की पुष्टि करता प्रतीत होता है, किन्तु आगे कठिनाई उपस्थित होती है—जब सूरदास कहते हैं —

गिरि गोवर्धन बास हमारो,
घर तजि अनंत न जाऊं।
ढाढ़िनि मेरी नाचे-गावै,
हौं हूँ ढाढ़ बजाऊं—॥

यहाँ तो ढाढ़ी ही नहीं 'ढाढ़िनी' भी विद्यमान है। सूरदासजी के कोई सूरदासिनी थी यह भी उस समय ब्रज के गोवर्धन निवासी थे अज्ञात है। अज्ञात ही नहीं सुनिश्चित है कि सूरदास अकेले थे। तब सूरदास के ढाढ़ी होने का जो गढ़ उक्त साखी से खड़ा होता है वह जाता है।

यदि सूर 'ढाढ़ी' नहीं तो 'जाट' हो सकते हैं। क्योंकि एक पद में उन्होंने स्पष्ट कहा है

शुद्धाशुद्ध बोझ बहुबहौं सिर
कपिजु करि लै दान।
हृदय कुचील काम भू-तृष्ना,
पाल-कल्मिल है पाप।

ऐसे कुमति जाट सूरज कों,
प्रभु बिनु कोउ न भाज ।। २१६

कवि विषयक विशद रूपकों का जिस सहज रूप से सूरदास ने कई पदों में उपयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि सूरदास कृषि-कर्म से पूर्णतः परिचित थे। तो क्या वे जाट हो सकते हैं? ऊपर जो पद दिया गया है, उसमें भी जाट शब्द उपमान बनकर आया है, वह सूरदास का विशेषण नहीं। फलतः 'जाट' शब्द सूर की जाति का द्योतक नहीं हो सकता। इसी प्रकार कृषि-कर्म के विशद ज्ञान की युक्ति सार रहित है। 'गौघाट' और परासौली दोनों ही कृषकों के गाँवों के स्थल हैं। उनसे सूर को कृषि का विस्तृत परिचय मिला होगा। जाट होने की सम्भावना इसलिए और निर्मूल हो जाती है कि कोई बहिर्साक्ष्य भी इसकी पुष्टि नहीं करता। तब, सूरदास जाट भी नहीं हो सकते।

इससे आगे अन्तर्साक्ष्य में और कुछ नहीं। बहिर्साक्ष्य की शरण जाने पर भी कई मत मिलते हैं—मेहतावजी ने भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व तीसरा भाग, अध्याय २२ श्लोक ३० उद्धृत किया है —

सूरदास इति ज्ञेय कृष्ण-लीला-कर कवि
सम्भूर्वे चन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरि प्रिय

इससे ये चन्द्र भट्ट (?) या भट्ट विदित होते हैं। मेहतावजी उन्हें यही सिद्ध करना चाहते हैं।

गोस्वामी यदुनाथ, समय सं० १६१५ से १६६०—(गोसाईं विट्ठलनाथजी के षष्ठ पुत्र) लिखते हैं —

ततो अरुर्क पुरे समागम ।
तत्रा वास कृत ।
ततो ब्रज समागमने सारस्वत,
सूरदासो ऽनुगृहीत

(वल्लभ दिग्विजय)

गोस्वामी गोकुलनाथ के समकालीन प्राणनाथ कवि लिखते हैं —

की वार्ता श्रीगोकुलनाथजी प्रगटि कीये ताको श्री हरिरायजी भाव कहत हैं।

[प्रा० वा० र० भा० २ पृ० २४।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता, की प्रामाणिकता पर आपत्ति।

१—कई जगह गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई वार्तों का बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है।

२—वल्लभाचार्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत भला बुरा कहा गया है और गालियां तक दी गयी हैं।

[हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्ल, पृ १८२।

यह वार्ता एक व्यक्ति की कृति नहीं,

३—यह विविध व्यक्तियों द्वारा कही गयी विविध गाथाओं का सकलन है, एक व्यक्ति की रचना नहीं। ['हिन्दुस्तानी' में 'मीराबाई और वल्लभाचार्य डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

वार्ताकाल निर्णय,

इनमें से चौरासी वैष्णवों की वार्ता आचार्य श्री वल्लभाचार्य के पौत्र और गोसांई विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसांई गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है या गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है। इसका रचनाकाल विक्रम की १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल पृ० ४४०।)

वार्ता के तीन रूप —

१—मूल वार्ताओं का मौखिक प्रवचन समय सं० १६४२ से सं० १६४२ तक है—इस काल तक गोसांईजी का तिरोधान हो जाता है और श्रीगोकुलनाथजी की उत्कृष्टता का समय आता है।

इनका संग्रह हस्तरत' किया गया। ये मौखिक कही गयी थीं। इनमें चौरासी तथा दो सौ वैष्णवों की वार्ता जैसा वर्गीकरण नहीं हुआ। ये वार्ताऐं गुजराती मिश्रित ब्रजभाषा में मिलती हैं। इसका समय १६४४ से १६६० तक माना जा सकता है।

२—श्री गोकुलनाथजी के समय और तत्पश्चात म श्री हरिरायजी द्वारा संपादन—चौरासी तथा दोसौ बावन वैष्णवों में विभाजन। इस संस्करण का समय सं० १६६४ से सं० १७३५ तक माना जा सकता है।

"कांकरौली में सं० १६९७ चैत्र सुदी ५ की एक हस्तलिखित तथा गोसांईजी के चार अष्टछापी सेवकों की वार्ता विद्यमान है। पुष्पिका से विदित है कि यह ग्रंथ गोकुल में लिखा गया था। यह किसी और या प्राचीन ग्रंथ की संक्षिप्त प्रतिलिपि है क्योंकि बीच-बीच में वार्ताओं के भीतर अमुक पंक्तियां छोड़ दी गयी हैं जिनको लिखिया मूल प्रति से मांच नहीं पाया है।

[प्रा० वा० र० भाग २, पृ० २३।

३—श्री गोकुलनाथजी के अनंतर और श्री हरिरायजी के समय इसका संकलन हुआ—वार्ता में आवश्यक प्रसंग सम्मिलित हो गये। उनके स्पष्टीकरण के लिए श्री हरिरायजी ने अपना भावप्रकाश लिखा। समय सं १७३५ के अनन्तर सं० १७८० तक। सं० १७५२ की वार्ता की प्रति भावप्रकाश सहित है। वार्ता का संपादन श्री हरिरायजी ने किया।

१—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम समय (सं० १७२९), में पत्र १४७ दोहा 'भाषा शिक्षा पत्र किय चौरासी नृपमाल।'

२—श्री कृष्णायनम श्री गोपीजन वल्लभाय नम अथ चौरासी वैष्णवन की वार्ता श्री गोकुलनाथजी प्रगट कीये ताको श्री हरिरायजी भाव कहत हैं।

(भावप्रकाश वाली ८४ वार्ता मथुरा के श्रीगीरीलालजी के पास।)

विमर्श

१—वार्ताएँ गोकुलनाथजी मौखिक कहा करते थे। पर यह विदित नहीं होता कि उन्होंने व लिखायीं या लिखी हुई देखीं। वे उन्होंने स्वयं लिखीं इसका भी कोई उल्लेख नहीं।

२—कुछ वार्ताएँ या सभी वर्तमान रूप में आने से पूर्व भी संप्रदाय में प्रचलित थीं। वार्ताएँ घटित घटनाओं का वर्णन करती हैं अत जहां तक घटनाओं का सम्बन्ध है वे उन्हीं

घटनाओं का उल्लेख करती है जो गोकुलनाथ के समय तक हुई मानी जाती थीं।

—इन वार्ताओं का रूप गोकुलनाथजी के समय में निश्चित अवश्य हो गया था जैसा १६९७ स० वाली प्रति से विदित होता है।

—इस प्रति की पुष्पिका में लेखक चुन्नीलाल ने अपना नाम तो दिया है। पर रचनाकार का नाम नहीं दिया—

'लिखत श्री गोकुल जी मध्य चुन्नीलाल' पर जिस प्रकार गोकुल के श्री गौरीलालजी वाली भावप्रकाश वाली ८४ वार्ता की प्रति के आदि में लिखा है कि श्री गोकुलनाथजी प्रगटि किये ताको' इस प्रकार उक्त प्रति में नहीं। लेखक का नाम बता जाने की परिपाटी तो है नहीं। सम्भवत इस समय वार्ताएँ गोकुलनाथजी कृत नहीं मानी जाती थीं वे प्रचलित थीं इन्हें इस लेखक ने संकलित कर दिया।

८—गोकुलनाथजी ने प्रचलित वार्ताएँ भक्तों को सुनायीं और उन्हें इस प्रकार का क्रम दिया। भक्तों ने वे अलग-अलग लिख डालीं और वे लिख ली गयी थीं गोकुलनाथजी के ही समय में और यही कारण है कि वार्ताओं के कई सम्करण मिलते हैं।

६—प्राप्त प्रमाणों से यह भी प्रकट नहीं होता कि वार्ताओं का संपादन हरिरायजी ने किया या उन्हें यह क्रम दिया। उन्होंने भावप्रकाश के साथ वे वार्ताएँ अवश्य लिखीं। यदि हरिरायजी ने ही तथाकथित द्वितीय संस्करण को सपादित किया होता तो वे अपने भावप्रकाश वाली ८४ वार्ताओं का क्रम भी वही रखते और तब प्राचीन वार्ता रहस्य के सपादक प्रो० कण्ठमणि शास्त्री को यह नही कहना पडता

हम उस स० १६९७ की लिखित प्राचीन वार्ता को यथावत् रूप में इसलिए प्रकाशित नहीं कर सके क्योंकि इसके ऊपर भावप्रकाश नही मिलता है इसके प्रसग उस प्राचीन प्रति के क्रम से मेल नहीं खाते।

जैसा प्रो० डा० दीनदयाल गुप्त के कथन से प्रकट होता है १६९७ की प्रति किसी अन्य की प्रतिलिपि है क्योकि बीच-बीच में वार्ताओं के भीतर अमुक पंक्तियाँ छोड़ दी गयी हैं जिनको लिपिया मूल प्रति से बाँच नहीं पाया है।

इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि मूल वार्ता १६६७ से भीपूर्व की होगी। भावप्रकाश इस प्रति से ३८ वर्ष बाद बना। प्रा० वा० के सपादकों ने माना है कि वह १६३२ के आसपास ही लिखा गया होगा। हरिरायजी का दूसरे संस्करण पर ३८ वर्ष के बाद क्यों भावप्रकाश लिखने का विचार हुआ। यदि इसका निराकरण मा बहुके कर भी दिया जाय कि उन वार्ताओं में कितने हो संदे होने लगे थे तो यह प्रश्न फिर भी महत्वपूर्ण रह जाता है कि ३८ वर्ष बाद उन्होंने प्रसंगक्रम क्यों बदले? संभावना यह प्रती होती है कि दूसरा संस्करण हरिरायजी ने नहीं किया। हरिराय ने तो अपने अनुकूल एक क्रम देकर उन कथाओं को गोकुलनाथजी द्वारा प्रगट की हुई मानी जाती हैं भावप्रकाश साथ ३८ वर्ष बाद प्रस्तुत किया।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदास

(डा० धीरेन्द्र वर्मा की अष्टछाप के आधार पर।)

अथ सूरदासजी गऊघाट पर रहते तिनकी वार्ता।

प्रसंग १—सूरदास गऊघाट पर रहते थे, वहाँ उनका स्थल था। सूरदासजी स्वामी थे भगवदीय थे, गान अच्छा करते थे। सेवकों ने वल्लभाचार्यजी के घाट पर उतरने की सूचना सूरदास को दी और महाप्रभुजी का परिचय दिया कि दक्षिण में दिग्विजय की, पंडित जीते और भक्तिमार्ग स्थापित किया है। महाप्रभु के निवृत्त होने पर सूरदास दर्शन का आये तब उन्हें आचायजी ने दीक्षित किया। सूरदास न अपने सवकों को भी दीक्षित कराया। सूरदासजी महाप्रभु के साथ व्रज में गये।

२—पहले गाकुल—गोकुलमें सूरदास को बाल लीला स्फुरी तब श्रीनाथजी द्वार गये।

३—सूरदासजी से देशाधिपति म मिलना चाहा वे मिले। पद सुने कहा कि मेरा जस कछू गावो। सूरदास न पद गाया।

नाहिन रह्यो मन में ठौर।

अकबर बादशाह ने पूछा कि सूरदासजी तुम्हारे नयन तो नहीं हैं फिर प्यासे कैसे मरते है। उक्त पद में उल्लेख था 'मरत लोचन प्यास'। सूरदासजी कुछ न बाले। सूरदासजी बिदा हो श्रीनाथ द्वार आय।

४—सूरदासजी मार्ग में जा रहे थे। मार्ग में चौपड़ खेल रहे थे। वहाँ सूरदासजी ने पद गाया। 'मन तू समुझि सोच विचार।'

५—श्रीनाथजी की सेवा बीच-बीच में गोकुल के नवनीत प्रिया के दर्शन। बाल लीला के पद यहाँ गाये गुसांईजी प्रसन्न हुए। गुसांईजी ने संस्कृत में पालना सुनाया और पद भी गाये।

६—फिर श्रीनाथजी की सेवा तब अन्त समय निकट जान कर परासोली आये। राजभोग आरती के पश्चात् गुसांईजी के साथ भीतरिया सेवक रामदास कुम्भनदास, गुसांईजी के सेवक गोविन्दस्वामी चत्रभुजदास चारों सोलों आये सूरदास की मृत्यु।

अथ कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता।

प्रसंग ४—कृष्णदासजी ने बहुत पद कीए। तब एक समय सूर दासजी ने कृष्णदासजी से पूछा कि तुम पद करते हो उसमें मेरी छाया है। कृष्णदास ने कहा कि ऐसा पद बनाऊँगा कि जिसमें तुम्हारी छाया न आवे। पद बनाया कृष्णदास ने तीन तुक तो बनायीं पर चौथी न बनी। वे उसे अधूरी छोड़ प्रसाद लेने उठ गये तो स्वयं श्रीनाथजी ने तुक पूरी कर दी। सूरदासजी ने सुना तो कहा 'तुम सों वाद है प्रभून सो वाद नाहीं।

प्रश्न अन्य अष्ट सखाओं के सम्बन्ध में कोई उल्लेख किसी अन्य वार्ता में क्यों नहीं मिलता ?

श्री वल्लभाचार्यजी के देहावसान का भी कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता ?

इस वार्ता में सूरदास से सम्बन्धित जिन व्यक्तियों का उल्लेख है वे हैं।

१—श्री आचार्यजी महाप्रभु

२—सूरदास को सेवक

३—दशाधिपति

४—भीतरिया के सेवक रामदास

५—कुमनदासजी
६—गोविन्दस्वामी
७—चत्रभुजदास
८—गुसाँईजी

सूरदास से सम्बन्धित जिन स्थानों का उल्लेख है।

१—गऊघाट
२—श्री गोकुल
३—श्रीनाथजी द्वार
४—परासोली

वार्ताओं में सूरदासजी की रचनाओं का उल्लेख

प्रसग १—गऊघाट पर आचायजी की आज्ञा से सुनाया।

१—हौं हरि सब पतितन को नायक(सू० सा० ना० प्र० पद १४६

और पद

२—प्रभु मैं सब पतितन को टीको

..

मरियत लाज सूर पतितन में कहत सबन में नीको
(सू० सा० ना० प्र० पद १३८

आचार्य कह्यो भगवल्लीला करो। आचार्य सूर को नाम सुनायो। २—समर्पण करामा। ३—दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका कही।

तय सूर ने यह श्लोक सुनाया।

१—नमामि हृन्य शेष लीलाक्षसिधि सायनम्।

महाप्रभून के सन्निधान पर कीय।

४—चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियाग।
(सू० सा० ना० प्र० पद ३३७

यह पद दशम स्कन्ध के मंगलाचरण की कारिका के अनुसार।

सूरदास ने नन्द महोत्सव कियौ।

ब्रज भयौ महर कें पूत। (सू० सा० ना० प्र० ६४२

आचार्यजी ने तब पुरुषोत्तम सहस्र नाम सुनायो।

तब सूर को सम्पूर्ण भागवत की स्फुरणा भई।

पाछे जो पद किये सो श्री भागवत प्रथम स्कन्ध स द्वादश स्कन्ध ताँई किये।

प्रसंग २—गोकुल। श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने श्री मुख सों कहते जो सूरदास श्री गोकुल वर्णन करौ—

श्री गोकुल की बालमीला सूरदासजी के हृदय में फुरी। तब सूरदासजी ने विचार कियौ मन में, जो श्री गोकुल की बाललीला को वर्णन करि कें श्री आचार्य श्री महाप्रभून के आगे सुनाइये।

सो नित करत पुनीत लिय।*

धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयौ जीएँ

(सू० सा० ना० प्र० पद ७६७

पाछे और हू पद गायो।

श्री नाथजी द्वार। तब सूरदासजी सों कह्यौ जो सूरदास प्रनाम करि कै श्री नाथजी को दर्शन करि। तब सूरदास जो पर्वत ऊपर जाय के श्री नाथजी को वर्णन कीयौ। तब आपने कह्यौ जो सूरदास कछु श्री नाथजी को सुनावौ—

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल। (सू० सा० ना० प्र० पद १४३

तब श्री महाप्रभुन जी ने कह्यो जो अब तौ सूरदास तुम में कछू अविद्या रही नाहीं। तातें कछू भगवद्यश वर्णन करौ। तब सूरदासजी ने माहात्म्य और लीला ऐसे यश करिये गाय सुनायौ। सो पद, राग गौर,

कौन सुकृत इन व्रजवासिन कौ।

इसके आगे हरिरायजी ने और पदों का भी उल्लेख किया है।

ता समय सेन भोग सरि चुक्यो हुतो सो तब नाम के कीर्तन सूरदास ने गाये, सो पद—

---

* हरिरायजी ने भावप्रकाश में इसका पाठ 'शोभित कर नवनीत लिए' दिया और बताया कि सूर ने इसे नवनीत प्रिया को लक्ष कर बनाया।

५—कुमनदासजी
६—गोविन्दस्वामी
७—चत्रभुजदास
८—गुसाँईजी

सूरदास से सम्बन्धित जिन स्थानों का उल्लेख है।

१—गऊघाट
२—श्री गोकुल
३—श्रीनाथजी द्वार
४—परासोली

वार्ताओं में सूरदासजी की रचनाओं का उल्लेख

प्रसग १—गऊघाट पर आचार्यजी की आज्ञा से सुनाया।

१—हौं हरि सब पतितन को नायक(सू० सा० ना० प्र० पद १४६

और पद

२—प्रभु मैं सब पतितन को टीको

मरियत लाज सूर पतितन में कहत सबन में नीको
(सू० सा० ना० प्र० पद १३८

आचार्य कह्यो भगवल्लीला करो। आचार्य सूर को नाम सुनायो। २—समर्पण कराया। ३—दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका कही।

तब सूर ने यह पद्य सुनाया।

१—नमामि हृदय शेषे लीलाक्षमब्धि शायनम्।

महाप्रभु के सन्निधान पद गाये।

४—चरई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम बियोग।
(सू० सा० ना० प्र० पद ३३७

यह पद दशम स्कन्ध के मगलाचरण की कारिका के अनुसार।

सूरदास ने नन्द महोत्सव कियौ।

ब्रज भयौ महर कें पूत। (सू० सा० ना० प्र० ६४२

आचार्यजी ने तब पुरुषोत्तम सहस्र नाम सुनायौ।

तब सूर को सम्पूर्ण भागवत को स्फुरना भई।

पाछे जो पद किये सो श्री भागवत प्रथम स्कन्ध से द्वादस स्कन्ध तांई किये।

प्रसंग २—गोकुल। श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने श्री मुख सों कहते जो सूरदास श्री गोकुल दर्शन करो—

श्री गोकुल की बाललीला सूरदासजी के हृदय में फुरी। तब सूरदासजी ने विचार कियौ मन में, जो श्री गोकुल की बाललीला को वर्णन करि कें श्री आचार्य जी महाप्रभून के आगे सुनाइये।

सो मित करम पुनीत लिय।●

धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयौ जोऐं

(सू० सा० मा० प्र० पद ७६७

पाछे और हू पद गायो।

श्री नाथजी द्वार। तब सूरदासजी सों कह्यौ जो सूरदास स्नान करि के श्री नाथजी कौ दर्शन करि। तब सूरदास जी पर्वत ऊपर जाय के श्री नाथजी को दर्शन कीयौ। तब आपने कह्यौ जो सूरदास कछु श्री नाथजी को सुनावौ—

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल। (सू० सा० ना० प्र० पद १५३

तब श्री महाप्रभून जी ने कह्यो जो अब तौ सूरदास तुम में कछु अविद्या रही नाहीं। तातें कछु भगवद्यश वर्णन करो। तब सूरदासजी ने माहात्म्य और लीला ऐसे जस करिके गाय सुनायौ। सो पद, राग गौर

कौन सुकृत इन ब्रजवासिन कौ।

इसके आगे हरिरायजी ने और पदों का भी उल्लेख किया है।

ता समय सेन भोग सरि चुक्यो हतो सो तब नाम के कीर्तन सूरदास ने गाये, सो पद—

१ ● हरिरायजी ने भावप्रकाश में इसका पाठ 'सोमित कर नवनीत लिए,' दिया और बताया कि सूर ने इसे नवनीत प्रिय को लक्ष्य कर बनाया।

राग बिहारी।

१—बोलत काहे न नागर बैना।

२—सुखद सेज में पौढे रसिकवर।

(सू० सा० ना० प्र० परि० पद २५७

३—पौढे लाल राधिका उर लाय।

(सू० मा० ना० प्र० परि० २ पद २५८

प्रसग ३—सूरदासजी ने सहस्त्रविधि पद कीये हैं ता को सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भये। देशाधिपति मिले और सूरदास ने उनके आगे कीतम गायो १ सो पद राग बिलावल—

मना रे तू करि माधौं सों प्रीति। (सू० सा० ना० प्र० पद १२५

देशाधिपति ने कहा—कुछ मेरा यश कहो। तब सूरदास ने गाया। 'नाहिन रह्यो मन में ठौर। इस पद के अत में था। हो जो सूर ऐसे दरस को मरत लोचन प्यास।

(सू० सा० ना० प्र० पद ४३५०

देशाधिपति से बिदा होके श्रीनाथजी द्वार आये।

प्रसग ४—एक समय सूरदासजी मार्ग में चले जाते सो कोई चौपड खेल रहा। सो ता समय एक पद सूरदासजी ने अपन संगकेन सौं कह्यौ—

मन तू समझि सोच बिचार।

भक्ति बिन भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकार॥

सूर हरि के पद भजन बिन चल्यौ दोउ कर झार।

प्रसग ५—सूरदासजी श्रीनाथजी द्वार आय के बहुत दिन ताँई श्रीनाथजी की सेवा कीनी। बीच बीच में श्रीगोकुल श्री नवनती प्रियाजी के दर्शन करि आवते। एक समय गोकुल आये और बाल लीला के पद बहुत सुनाये श्री गुसाई जी सुन के बहुत प्रसन्न हुए।

श्री गुसाईजी पालना सस्कृत में कीयो सूरदास को सिखायो। सूरदास ने वा पर 'प्रस पर्यंक शयनं' के भाव के अनुसार बहुत पद किये। सो पद।

राग बिलावल

१—बाल विनोद आँगनि में की डोलनि।

कहँ जन सूर कहा लौं बरनौं धन्य नद जीवन जग तोलनि।

(सू० सा० ना० प्र० पद ७१९

२—गोपाल दुरे हैं माखन खात ।

फुरत न वचन बरजिबे को मन रही विचारि विचारि ।
(सू० सा० ना० प्र० पद १०१

३—कहाँ लग बरनौं सुन्दरताई ।

घुटुरुन चलत चठत प्रभु दिन मन सूरदास बलि जाई ।
(सू० सा० ना० प्र० पद ७२६

राग रामकली

देखो सखी एक अद्‌भुत रूप ।

एक अम्बुज मध्य देखियत बीसदधि सुत ।

सूर श्री गोपाल की छवि राखो मह निरधार ।

हरिरायजी ने भावप्रकाश में ये पद दिये हैं—

१—देखो सखी एक अद्‌भुत रूप ।
२—शोभा आज भली बनि आई ।

प्रसंग ६—परासोली अस समय श्री गुसांईजी आये तब एक पद गायौ ।

देखो देखो हरि जू को एक सुभाव ।

.. ..

सूरदास ऐसे प्रभु क्यों करदीजे पीठ ..

चत्रभुजदास ने कहा श्री आचार्यजी महाप्रभु को जस वर्णन तो कीयो ।

सूर ने कही उन्हें कुछ बारा नाहीं, एक पद कहा ।
भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ।

श्री वल्लभ नखचंद छटा बिन सब जग मांझ अंधेरो ।

.. ..

सूर कहा कहि दुबिधि आँधरो बिना मोल को चेरो ।

गुसांईजी ने पूछा चित्तवृत्ति कहाँ, सो पद कहा ।

बलि बलि हों कुमर राधिका नदसुवन जासों रति मानी ।

... .

गुसाँईजी ने पूछा नेत्रवृत्ति कहां ह सूर –

'सजन नैन रूप रस माते' (सू० सा० ना० प्र० पद ३२८५

प्रसंग ७—अष्टछाप के कवियों में कोई व्यावहारिक आदान प्रदान नहीं मिलता वार्ता में केवल एक ढग का उल्लेख है। कुछ अष्टछाप के कवि तथा अन्य भक्त किसी दिन सूरदास के पास आये और कोई साम्प्रदायिक प्रश्न किये। किसी दिन कुंमनदासजी के पास, कभी कृष्णदास के इसी प्रकार प्राय सभी के पास जाने का भाव प्रकाश वाली वार्ताओं में उल्लेख है। धीरेन्द्रजी वाली प्रकाशित प्रति में एक प्रकार का भी उल्लेख नहीं है।

प्रसंग ८—भावप्रकाश वाली वार्ता में तुलसीदासजी नंददास से मिलने आये हैं उस समय का उल्लेख है। पाछे नंददास सूरदासजी से मिलि के श्रीनाथजी के दर्शन करिबे कूं गये। तब तुलसीदासजी हू उनके पाछे पाछे गये। इससे भी सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी उस समय सूरदास से मिले होंगे।

प्रसंग ८—नंददास की वार्ता में ही भावप्रकाश में लिखा है ता पाछे नन्ददास छ मास पर्यन्त सूरदासजी के संग परासोली में रहे। पीछे श्री गोकुल में रहे। इससे यही प्रकट होता है कि सूरदासजी का गोवर्धन-निवास परासोली में था। तुलसीदास को नंददास यहीं मिले थे। 'सो वहां परासोली में तुलसीदासजी नन्ददास कूं मिले।'

इस वार्ता के अनुसार अकबर कहां कब किससे मिला

१—सूरदास से मथुरा में प्रसंग ३ पृ० २४।

२—कुंभनदास से सीकरी में पृ० ११८।

३—नन्ददास से मानसी गंगा गोवर्धन में ६ पृ० १२१।

हरिरायजी के भावप्रकाश में विशेष (प्राचीन वार्ता साहित्य कांकरौली से यहां केवल उन्हीं वार्ताओं का उल्लेख किया जा रहा है जो डा० धीरेन्द्र वाली से विशेष हैं।)

प्रसंग १—में सूर के गोवर्धन श्रीनाथजी द्वार में कीर्तन के लिये नियुक्ति तक के वर्णन में कुछ विशेष पदो का उल्लेख

घटनाएँ प्राय एक सी, धीरेन्द्रजी की अष्टछाप से मिलती हुई।

२—घटना चौपड़ वाली।

३—१–आचार्यजी सूरदास से कहते भँवर सूरसागर।

२–तानसेन ने सूर का पद सीखकर अकबर को पद सुनाया सो पद — यह सब आनों भक्त के लक्षण।

तब देशाधिपति ने सूर से मिलने का विचार किया।

जब अकबर उन्हें कुछ देने लगा और कहा 'कछु तो मो को आज्ञा करिये तब सूरदासजी ने कही जो-आज पाछे हमको कबहूँ
— फेरि मति बुलाइयो और मो सो कबहूँ मिलियो मत।

४—आगरा में अकबर ने सूर के पद संग्रह कराये-फारसी में। बनावटी पद भी आये। पानी पर तैराकर अकबर ने परीक्षा ली। सूर के पद तरते रहे। नकली डूब गये।

५—गोकुल में गुसाँई व्रत पालने के अनुसार पद।

६—गोसाँई जी श्रीनाथ द्वार गये पर श्री गिरिधरजी आदि बालकन के कहने पर सूर गोकुल रहे।

श्री गिरधरजी सों श्री गोविन्दरायजी श्री बालकृष्णजी और श्रीगोकुलनाथजी ये तीनों भाई उत्साह करो अनोखो शृंगार करो। गिरधरजी ने कहा परीक्षा लेना ठीक नहीं सूर भगवदीय हैं। उन्हें स्वरूपानन्द को अनुभव हो जाता है। पर बाल हठ से प्रात उन्होंने अनोखा शृंगार किया-वस्त्रविहीन, मोती के आभूषण। सूरदास ने अद्भुत पद किया।

देखेरी हरि नंगम नगा।

७—सूरदासजी के पास गोपाल नामा व्रजवासी कामकाज के लिये रहता था। वह भोजन के समय सूरदास का पानी रखना भूल गया स्वयं श्री नाथजी अपनी भारी रख गये।

८—एक बनिये का प्रसंग। श्री नाथजी के मन्दिर के नीचे गोपालपुरा गाँव में बनिया ६० वर्ष का। कभी दर्शन न किये। न वैष्णव। सूर ने सोचा इसे वैष्णव बनाओ।

तीन दिन फिरे—भय दिखाया कि तेरा भंद खोल दूंगा।
एक-भी वैष्णव सामान नहीं खरीदेगा। पद बनाया।

'आज काम कालि काम परसों काम करनो' आखिर यह वैष्णव हुआ और शरण गया। गुसाँईजी ने ब्रह्मनाम सम्बन्ध कराया तब सूरदासजी नें एक पद करि वा बनियाँ को सिखायो।

राग बिलावल

कृष्ण सुमिर तन पावन कीजे।

९—श्री गोकुल ते परमानन्द आदि वैष्णव दस पन्द्रह सूरदास सों मिलिवे आये। ताही समय सूरदास ने कीर्तन गाये।

१—हरिजन संग छिनक जो होई।

२—प्रभुजन पर प्रसन्न प्रभु होई।

३—हरि के जन की अति ठकुराई। (सू॰ सा॰ ना॰ प्र॰ पद ४०

४—जा दिन संत पाहुने आवें। (सू॰ सा॰ ना॰ प्र॰ पद ३६॰

वैष्णवन ने कहीं ज्ञान, योग, परमानन्द और श्री ठाकुरजी को प्रेम, स्नेह को स्वरूप सुनायो सूर ने सुनाया—

राग बिहागरो

जोग सों कोउ नाहीं हरि पाये (सू॰ सा॰ ना॰ प्र॰ पद ४२१२

१०—सूरदासजी ने बहुत दिन तांई भगवत सेवा कीनी ता पाछे जाने जो भगवद् इच्छा मोकों बुलायवे की हैं। पर सोचा कि मैं ने मन में सवा लाख कीर्तन करने का सकल्प किया है। लाख तो कर लिये हैं। तब श्री गोवर्द्धननाथजी आप प्रकट हुए और कहा २५ हजार कोर्तन सूरस्याम नाम से म न कर दिये हैं। तुम्हारा सवा लाख का सकल्प पूरा हो गया है।

११—तब सूरदासजी परासोली गये राजभोग आरती उपरान्त श्री गुसाँईजी रामदास कुंभनदास गोविन्दस्वामी, चत्रभुजदास आदि सूरदास के पास आय।

गुसाँईजी के पहुँचने पर सूरदास ने सारगराग में यह पद गाया।

चत्रभुजदास ने कहा आचार्यजी को पद गाओ सूर ने गाया
भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ ।

चत्रभुजदास ने कहा सूरदास थोर में पुष्टिमारग को स्वरूप सुनाओ ।
सूरदास ने पद सुनाया । राग सारंग—
भज सखी भाव भाविक देव ।

श्री गुसाईंजी ने पूछा चित्त की वृत्ति कहां है । एक पद गाया ।
बलिबलि हौं कुंवर राधिका नंद सुवन जासों रति मानी ।
पाछे दूसरो पद गायो ।

खजन नैन रूप रस माते ।

मृत्यु

वार्ताओं की इस संक्षिप्ति से सूर के जीवन की विविध घटनाओं का भी पता चलता है और वार्ताकार की मानसिक स्थिति का भी । सूर के काव्य की पृष्ठभूमि का एक पहलू भी स्पष्ट हो जाता है । इन वार्ताओं की प्रामाणिकता अभी हम केवल इतनी तो मान ही सकते हैं कि इनमें सम्प्रदाय में सूरदास विषयक बातें आगयी हैं । सूरदास पर वार्ताओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी मिलता है । वह इतना भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । अभी सूरदास विषयक अनुसंधान बहुत ही उथला है । इस सम्बन्ध में सभी दिशाओं से गंभीर प्रयत्न अपेक्षित है ।

—१३—

सूरसागर

सूर की रचना—'सूरसागर सूरदास की रचना है। यही सूरदासजी की ऐसी रचना है, जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, जिसे सभी सूरदास की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।'[1]

सूरसागर का स्वरूप—वार्ता में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ के लिए नहीं हुआ, वरन् सूरदास जी के लिए हुआ है।[2] सूरदास स्वयं 'सागर' थे उनके पदों का संग्रह भी सागर कहलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'सूरदास' के पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। सूरदास जी सम्बन्धी 'वार्ता' में यह उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्रावधि' पद लिखे। इसी के उपरान्त श्री हरिराय जी द्वारा सम्पादित 'वार्ता' में एक प्रसंग यों है—

'सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो—मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा तें पचीस

१—डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है "इस सूची की विवेचना के फलस्वरूप सूरदास की केवल एक प्रामाणिक रचना, सूरसागर रह जाती है। इस रचना की सूचना वार्ता से भी मिलती है।"—सूरदास, पृ० ८७।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त शेष सभी लेखक तथा विद्वान 'सूरसागर' के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं को भी सूरदास कृत मानते हैं।

२—'और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते हो—आवो सूरसागर, सो ताको आशय यह है जो—समुद्र में सगरी पदार्थ होत है। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो है।'—'प्राचीन वार्ता रहस्य' तृतीय भाग पृष्ठ ११

हजार कीर्तन और प्रकट करने

वाही समय श्री गोवर्द्धननाथ जी आपु प्रकट होय के दरशन दे कें कह्यो जो—सूरदास जी। तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो हु सो तौ पूरन होय चुक्यौ है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं। [1] ये पचीस हजार कीर्तन 'सूरस्याम' की छाप से युक्त थे।

सूरदास के अन्तर्साक्ष्य से पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए सूरसारावली के एक पद की ये पंक्तियाँ दी जाती हैं—

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताकौ सार 'सूर सारावलि' गावत अति आनन्द।।

इन कथनों से यह विदित होता है कि सूरदास ने सहस्राविधि अथवा सवा लाख अथवा एक लाख पद रचे। वार्ता के प्रसंग से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि इस वार्ता के प्रचलित होते समय तक सूरदास जी के पदों की संख्या तो सवालाख मानी जाने लगी थी पर उसमें 'पच्चीस हजार' पद ऐसे थे जो सूरदास के नहीं थे। हो सकता है यह बात पदों में 'सूर-स्याम' छाप की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गयी हो। किन्तु साधारणतः यही अनुमान होता है कि सूरदास के पदों में किसी अन्य के रचित पद भी सम्मिलित हो चुके थे। इसकी पुष्टि इसी वार्ता के एक अन्य प्रसंग से होती है।

'पातशाह देशाधिपति ने आगरे में आयकें सूरदास के पदन की तलाश कीनी। जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूँ रुपैया और मोहोर देय। सो वे पद फारसी में लिखायकें बांचे। सो मौहोर के लालच सों पण्डित कवीश्वरहु सूरदास के पद बनाय के लावें।"[2]

१—'प्राचीन वार्ता रहस्य द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६।

२—वही पृष्ठ सं ३७। भावप्रकाश वाला यह वार्ता-प्रसंग सं० १७२८ से १७५२ के बीच हरिराय द्वारा लिपिबद्ध किया गया होगा। दे 'सूरनिर्णय' पृष्ठ २१। अतः अठारहवीं शताब्दी तक के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सूरदास की मौलिक रचनाओं में प्रक्षिप्त पद मिल गये थे।

सूरदास के लाख सवा लाख पदों की गणना में सम्भवतः ऐसे भी अन्य कवियों द्वारा रचे जाने वाले पद भी सम्मिलित हो गये होंगे। पर इतना होने पर अभी तक जो पद सूरदास कृत पाये गये हैं वे सब ८–१० हजार से अधिक नहीं हैं।

सूरदास की रचनाओं का संग्रह अकबर के समय में ही होने लगा था। अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ स० १६९७ का लिखा हुआ है।[1] यह प्रति राठौर वंश को मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गयी थी।[2] किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें सूर के समस्त पद सम्मिलित हों। प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में तो उनके रचित पद हैं ही पर उनके बहुत से पद तो वल्लभ-सम्प्रदाय के कीतर्नों में ऐसे मिलते हैं जो कहीं भी सम्मिलित नहीं हैं। अतः यह सम्भव नहीं कि सूरदास द्वारा रचित पदों की ठीक संख्या बतायी जा सके। इस दिशा में अभी खोज चल रही है और चलती रहनी चाहिये। वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तनादि में मिलने वाले भी समस्त पदों का संग्रह होना चाहिये। जहाँ तक सूरदास के पद निर्माण की सामर्थ्य का प्रश्न है यह कहा जाता रहा है कि वे कभी पुराना पद गाते ही नहीं थे। इस प्रकार 'सूर निर्णय' के लेखकों ने हिसाब लगाकर यह निष्कर्ष निकाला है

"यदि हम पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है। हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है वह कम से कम है और प्रामाणिक आधार पर है अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।'[3]

उनकी यह संख्या इस प्रकार है—

१—१८ वर्ष से ३१ वर्ष की आयु तक वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व— ४५०० पद (प्रतिदिन एक)

१—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृष्ठ १५८।

२—वही पृष्ठ म।

३—सूर निर्णय पृष्ठ १०४।

२—श्रीनाथ कीर्तन में आठ पहर के आठ गीत प्रतिदिन—प्रतिवर्ष २८८० पद आधे पद कुम्भनदास के निकाल दें तो वर्ष में १४४० अत १५६७ से १५७७ तक ११ वर्ष में—	१५८४० पद
३—परमानन्ददास के कीर्तनियां नियुक्त होने पर सूरदास के वार्षिक पद एक तिहाई २१६० कम-से-कम ९०० सं० १५७७ से १६०२ (अष्टछाप स्थापना का संवत्) तक २५ वर्ष—	२२५०० पद
४—अष्टछाप की स्थापना के उपरान्त वार्षिक संख्या का $\frac{1}{8}$ सूर ने रचा होगा—२३६० पद अत १६०२ से १६४० तक—३९ वर्ष—	१४०४० पद
५—सं० १६०२ से विट्ठलनाथजी ने अनेकों वर्षोत्सव बढ़ाये—समस्त उत्सवों के दिनों का परिमाण ९ मास इसके २७० पद—३९ वर्ष के उत्सवों के पद—	१०५३० पद
६—शयनोत्तर दीनता-आश्रय के पद—ये महाप्रभु के समय से हों—७३ वर्ष के ये पद—	२६२८० पद
७—लीला सिद्धान्त आदि के अन्य पद और जोड़ें तो लाख-सवा लाख तक संख्या पहुँचेगी ।[1]—	९३३५० पद

सूर-सागर का विषय—सूर-सागर सूर के मानस रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है । यह आधार मुख्यतः 'भागवत' है स्वयं 'सूर' ने कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है—उदाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है

---

१ 'सूर-निर्णय' पृष्ठ १७०—१७४

अष्टम स्कन्ध—से गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र-मथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण करना, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है।

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्‌भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा हलधर का विवाह, राजा अम्बरीष और सौभरि ऋषि का उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का आगमन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में गौतम-अहिल्या का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है। सूर को भगवान कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है। वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर में राम-चरित्र का भी हृदय हारी चरित्र चित्रण किया है। राम के बाल-रूप-वर्णन में तो अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल वे तल्लीन हो गये हैं सीता का विरह वर्णन भी अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के कवित्व की कोमलता कमनीयता और कला, भगवद्‌भक्ति भावुकता और मधुरता, वैलक्षण्य विलास व्यंग्य और विदग्धता सबका स्रोत यहीं तो है जहाँ से यह भिन्न भिन्न भाव-धाराएँ फूट फूटकर सूरसागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है। भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान कृष्ण की जन्म-लीला, मथुरा से गोकुल आना, छठी, पूतना-वध शकटासुर और तृणावर्त का वध नामकरण अन्नप्राशन वर्षगाँठ कर्ण छेदन, घुटनों के बल चलना बाल-वेश चन्द्र प्रस्ताव, कलेवा, माटी खाना माखन चोरी गो-दोहन, वत्स-बक-अघासुर वध ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात् श्रीदा राधा का श्याम के घर आना श्याम का राधा के घर जाना, गो-चारण धेनुक-वध कालिय दमन, दावानल पान प्रलम्ब-वध, मुरली चीर हरण पनघट, गोवर्धन-पूजा दान-लीला, नेत्र-वर्णन रासलीला, राधाकृष्ण का विवाह मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी-लीला, श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ

मथुरा आना मुष्टिक चाणूर-वध कंस-वध उग्रसेन को सिंहासनासीन करना वसुदेव-देवकी के दमन करना यज्ञोपवीत कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों के वर्णन में जितनी रुचि रमी है उतना अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधामक्षेत्र था और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और वरिष्ठ वर्णन सूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं।

दशम स्कंध उत्तरार्द्ध—दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध द्वारिका-निर्माण कालयवन-दहन मुचकुन्द का उद्धार द्वारिका प्रवेश रुक्मिणी हरण प्रद्युम्न विवाह ऊषा अनिरुद्ध विवाह नृगराज का उद्धार बलराम का व्रज-गमन सांब-विवाह कृष्ण का हस्तिनापुर जाना जरासंध-वध शिशुपाल-वध शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण शाल्व-वध दन्त-वक्र और बल्वल का वध सुदामा-दारिद्रय-भजन कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द यशोदा तथा गोपियों से मिलना वेद-स्तुति नारद-स्तुति सुभद्रा अर्जुन का विवाह भस्मासुर-वध भृगु-परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कंध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बौद्धावतार कल्कि-अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाएँ हैं। अवतारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है।

सूर-सागर के काव्य की पृष्ठभूमि—सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत् १५३५ में हुआ सन् १४७८ ई० में। मृत्यु सं० १६४० के लगभग हुई सन् १५८३ ई० में। १०५ वर्ष के इस काल में भारतीय इतिहास की एक शताब्दी व्यतीत हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखायी पड़ते हैं—सूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है। उससे पूर्व की एक शताब्दी बहुत धार्मिक हलचलों और ऐतिहासिक उथल पुथलों की थी। समस्त युग सामन्तवादी था। छोटे-छोटे राज्य छोटे छोटे सामन्त। प्रत्येक राज्य और प्रत्येक सामन्त की अपनी अलग आन-बान-शान। इनमें परस्पर भी युद्ध होते थे और अब तक—अकबर से पूर्व तक विदेशी माने जाने वाले दिल्ली के मुसल्मानी शासकों से भी युद्ध होते थे। छुट-पुट

मुसलमानी राज्य दक्षिण में भी स्थापित होगये थे। इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी। दिल्ली की केन्द्रीय-शक्ति मुसलमानी शासन-स्थापन होने के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे के हाथों में प्राय इतनी जल्दी-जल्दी गयी थी और राजकीय लड़ाइयाँ जहाँ तहाँ आये दिन इतनी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन तो उनमें न रस पाता था, न बल। राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित ही था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आये दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या लगेगा! फलतः प्रजा को भी युद्धों से वैराग्य था, युद्धों से नहीं राजनीति से भी। वे अपने काम में व्यस्त रहते जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी शांति वे खरीदते रहे। इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना वही थी जो मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रकट की थी।

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।।

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मग्न नहीं होती गयी अपने व्यसनों में भी डूबी। व्यसन था धर्म और यह व्यसन इस युग में जीवन और व्यवहार का मुख्याधार बन गया था। राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था वह तो राज्य और राजनीति से भी गहराई के साथ चिपक गया था। राज्य और राजनीति से चिपके इसी धर्म का अत्याचार प्रजा और जनता को भोगना पड़ता रहा था और इस धार्मिक अत्याचार का कोई न कोई प्रभाव सूरदास ने भी अनुभव किया ही होगा। यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म के आवरण से युक्त न होते तो इस काल का ही नहीं भारत का भी इतिहास या रूप कुछ भिन्न होता किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त ही नहीं हुआ विमुख भी हो चला। दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा का नारा बुलन्द भी हुआ पर यह जम नहीं सका। इसी कारण साधारण जन की मानसिक अभाव-पूर्ति के लिए अपनी राज्य भक्ति की भावना की तुष्टि के लिए अपने मनोनुकूल राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई—

भारतीय प्रजा क्या चाहती थी—वह चाहती थी अपने लिए राजा क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी राजतन्त्र में पली थी, राजतन्त्र का वह युग था।

ऐसा राजा जो उनका प्रतिपालन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था।

ऐसा राजा जो उन्हें कल्याण का मार्ग बताये—अन्यथा विदेशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता।

ऐसा राजा जिसका पार्थिव वैभव भी महान हो—राज-कोष का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था।

ऐसा राजा जो धर्म की धुरा को धारण करने वाला हो क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था।

ऐसा राजा जो भगवान् का अंश ही न हो उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान का अंश होता है यह तो भारत में बद्धमूल धारणा थी ही किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान शासक को भी अपनी भेंट देते ही थे पर भगवान के उस अंश पर भ्रमझा जा रहा था तो भगवान का अवतार ही उनकी तुष्टि कर सकता था।

राजा ऐसा भी हो जो उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—'निगुरा' व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था। कबीर को भी इसी भावना के आगे हार कर गुरु करना पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिभा ने और गोसाईं विट्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इस समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मूर्त रूप 'पुष्टिमार्ग' में खड़ा कर दिया—

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान् के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए।[1] इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्बन्ध प्रस्तुत हुआ—

---

१ हरि गुरु एक रूप नृप जान—सूरदास। विट्ठलनाथजी के कहने के समय सूरदास ने यह पद गाया—

श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई

१ मूल भगवान्—स्वयं कृष्ण

२ विग्रह भगवान्—कृष्णजी की विविध मूर्तियाँ

३ गुरु भगवान्—वल्लभाचार्य जी तथा गोसाँईजी[1]

इनमें राज्य-वैभव की प्रतिष्ठा भी बड़ी युक्ति से की गयी। भगवान के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदासजी ने भगवान को ठाकुर बताकर उनके राज्य-शासन का ही उल्लेख रूपक से किया है।[2] वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने ठाकुरजी की सेवा के विधान में पूर्ण राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुरजी के विविध वर्णन राजसिक वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि मोती हीरा मूँगा स्वर्ण से कम का उल्लेख तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन काल्पनिक नहीं यथार्थ था क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

१। श्रीवल्लभ गुरु द्विज के रूप कोउ कहा बखान

मधुरि कृष्ण अवतार लियो है, सरन तुम्हारे आई।

कोटि-कोटि बलि जाय महातम प्रगटे श्री मधुरास,

विरचीये भक्तराजी को पुत्र, श्री विट्ठल सुखदाई।

गिरिधरलाल को काहे बखानें, 'सूरदास' बलि जाई।

१ सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस परम्परा का स्पष्ट आभास है—

भजो गोपाल भूलि जिन जाये

मनुषा देह को यही है लाहो।

गुरु-सेवा करि भक्ति कमाई

कहिये प्रात गुरु सिर नावैं

प्रात समै श्रीकृष्ण ही ध्यावैं

जो ठाकुर को करै प्रनाम

सेवा की यह अद्भुत रीति

श्री विट्ठलनाथ सों राखै प्रीति आदि।

२ यथा—

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।

तथा

हरि जन को अति ठाकुर। आदि

इस विधि से राजनीतिक राज्य विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वेच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने भक्तजनों को 'तन मन धन सब गोसाईजी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

सूरसागर का विश्लेषण—

इस पृष्ठभूमि पर सूरसागर बना और इस सबकी झिलमिलाहट सूर सागर में विद्यमान मिलती है। सूर-सागर के काव्य के विश्लेषण से हमें उसमें तीन तत्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा २—वर्णन-वैभव ३—भाव-सम्पत्ति

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भक्त उसका सम्बन्ध मूल कृष्ण से है। वह कृष्ण जो परम तत्व हैं और जिनके अवतार वल्लभ और विट्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विशदता और रागसिकता है वह मन्दिरों और आचार्य गुरुओं के वैभव के आधार पर है। भगवान के रूप की और शृङ्गार की कल्पना में पौराणिक शृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस शृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। वार्ता से स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तन में जैसा शृङ्गार ठाकुरजी का होता था वैसा ही वर्णन करते थे।[1] इस कथा और वर्णन-वैभव के साथ 'भाव-सम्पत्ति' का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पत्ति आचार्य और गोसाइयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुञ्जी एक पद में दी है उसकी पुष्टि और व्याख्या 'वार्ता' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति ही थी।[2] यह व्यक्तिगत धरातल

१ देखिए प्राचीन वार्ता रहस्य में सूरदास की वार्ता का 'वार्ता प्रसंग ६' "वे कीर्तन भाव करे जो—ये सूरदासजी, जैसा शृङ्गार श्रीनवनीतप्रियाजी को होत है, तैसे ही वर्णन सूरदास करत हैं।—पृ० १

२ वार्ता प्रसंग यों है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गोसाईंजी के पास ठाढ़े हते। तब्में से चतुर्भुजदास ने कह्यो जो—सूरदासजी परम भगवदीय हैं, और सूरदासजी ने भी ठाकुरजी के सहस्रावधि पद किये हैं परन्तु सूरदासजी ने श्री आचार्यजी महाप्रभुन को जस वर्णन नाहीं कियो।

पर इतनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों में वात्सल्य के चित्र जैसे विट्ठलनाथ के ही बाल-जीवन के चित्र प्रतीत होने लगते हैं। इस गोवर्द्धन और गोवर्द्धनधारी के ढाढ़ी-कीर्तनियां सूर के इन वात्सल्य वर्णनों में जो तन्मयता और भक्ति है और उनमें काव्य-वस्तु की जो यथार्थता है वह उनके किसी अन्य वर्णन में नहीं है। इसी कारण सूर के सूरसागर में काव्य-वृत्ति का विकास कुछ इस प्रकार सिद्ध होता हुआ दिखाया पड़ता है

यथार्थ स्तर—संयोग भावमय स्तर—वियोग बौद्धिक स्तर
भाव-तन्मयता भाव-माधुर्य भाव-समृद्धि
वात्सल्य

सूरसागर का समस्त काव्य वात्सल्य तथा शृंगार-रस से युक्त है। इन रसों की क्रमशः स्थिति उपरोक्त विधि से ही है वात्सल्य उसके उपरान्त संयोग-शृंगार तदनन्तर वियोग। 'वात्सल्य' में कृष्ण की बाल क्रीड़ाएँ हैं। जिनमें भक्ति की भाव-संयोजना के साथ बालक के मानसिक विकास का सूत्र भी परिलक्षित होता है। इस वात्सल्य में यथार्थ में आरम्भ से ही गोपियों के प्रेम का अवलम्ब दृष्टिगत होता है। पहले यह गोपी-कृष्ण प्रेम अत्यन्त साधारण धरातल पर है गोपियां कृष्ण को चाहती हैं कृष्ण गोपियों के घर में घुस कर उपद्रव करते हैं माखन चुराते हैं। कृष्ण इस समय बालक ही हैं किन्तु उनका कृष्ण पर प्रेम यशोदा के प्रेम से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रेम कुछ विकसित होते ही 'राधा' सामने आ जाती है और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की लीला होने लगती है। इसकी चरम परिणति रास में होती है तभी वियोग' हो जाता है इस वियोग का चरमोत्कर्ष 'भ्रमर-गीत' में होता है। वात्सल्य में भावतन्मयता है कृष्ण की बाल-लीलाओं के अवलम्ब के साथ। संयोग में भाव माधुर्य है वय सधि और अंकुरित यौवन के साथ मुरली और रास

यह सुनि कै सूरदास जी कहे जो –मैं तो अपनो जस श्री आचार्यजी को ही वरनन कियो है। या मैं कछु न्यारो देख्यो तो न्यारो करतो। फिर इनमें कोऊ पूछो है, सो मैं तेरे पास कहत हौं, सो या कीर्तन के अनुसार अपने जीवन जानिये सो पद राग बिहाग—भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो। पृ० ५१ प्राचीन वार्ता रहस्य।

का इस सयोग में विशेष स्थान है । इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है । इस काल की क्रीड़ाओं में किसी का भी अवलम्ब यथार्थ नहीं प्रत्येक यथार्थ के संकेत में शृंगारिक कल्पना से भावोद्रेक है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही मधुकरे हैं—तब वियोग में यह भाव मुग्धता तो कम हो जाती है बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है । बौद्धिक होकर गोपियाँ अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा लेती हैं ।

सूरसागर का काव्य—

इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है । किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी इन्हीं में नहीं है । इन तन्तुओं को जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किए हुए है वह न समय की परिधि से घिरी हुई है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से । मानव में उसके शारीरिक सौन्दर्य को पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है । उस पर आज विचार नहीं किया जा सकता ।

— १४ —

सूरसागर : कीर्त्तन-काव्य

सूरसागर कीर्तन-काव्य है। काव्य का यह नया रूप अकबर के समय में परिपुष्ट हो गया था। आईने अकबरी में सत्रह प्रकार के गायकों का उल्लेख हुआ है। इनमें १० वें प्रकार पर हमारा ध्यान विशेषत रुकता है। ये हैं कीर्तनियां। आईने अकबरी के लेखक ने 'कीर्तनियां' शीर्षक से लिखा है कीर्तनिया ब्राह्मण होते थे प्राचीन वाद्य यन्त्रों का उपयोग करते थे। ये सुन्दर बालकों को स्त्रियों का रूप धारण कराके उनसे कृष्ण की स्तुति और उनकी लीलाओं का गान करते थे। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सूरदास के समय में 'रास' और 'कीर्तन' में कोई अन्तर नहीं था। रासक की प्राचीन परम्परा कृष्ण की लीलाओं से संबद्ध होकर अकबर के समय में कीर्तन कहलाने लगी थी। रासक की गेयता और अभिनयता तथा नर्तन तीनों को ही इसने सुरक्षित रखा है। कीर्तन-गायक कीर्तनियां कहलाते थे। यह बात दृष्टव्य है कि वार्त्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य महाप्रभु ने सूरदास को श्रीनाथजी का कीर्तनिया नियुक्त किया था। आईने अकबरी के उल्लेखों के प्रकाश से इस कीर्तनिया का सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है और स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं कीर्तनिया की प्रणाली में लिखा गया काव्य कीर्तन-काव्य कहलाता है। सूर ने इसी परिपाटी में सूरसागर प्रस्तुत किया। कीर्तन-काव्य का प्रमुख उद्देश्य तो भावात्मक और रस-परिपाक ही होता है किन्तु राग अथवा रासक की भूमि पर खड़े होने के कारण कथा का सूक्ष्म तंतु भी रहता है। आईने अकबरी से कीर्तनियों के कीर्तन पर यह प्रकाश पड़ता है कि

१—कीर्तन संगीत का ही प्रकार है गेय है।

२—स्तुति युक्त होते हैं और

३—लीलाओं का भी गान करते हैं।

लीलाओं के उल्लेख के कारण कीर्तन-काव्य में कथा का कोई न कोई बिन्दु रहता ही था। अतः किसी कथा बिन्दु के आश्रय से ही भावोद्रेक और रस-परिपाक कीर्तन-काव्य में होगा। यह कथा-बिन्दु कीर्तन-काव्य में समाविष्ट होगा तो उसके पूर्व एक पीठिका तथा भूमिका भी अपेक्षित होगी। कीर्तन के लिए अभिप्रेत भाव विमुग्धता की स्थिति तक पहुँचने के लिए भी और उस भावसम्पत्ति के केन्द्र कथा बिन्दु की पीठिका के लिए एक संक्षिप्त कथावृत्त अनिवार्य हो जाता है। फलतः कीर्तन-काव्य में कथा-काव्य पीठिका अभिप्रेत कथा-बिन्दु तत्प्रेरित भाव-संयुक्त पद-समूह—प्रत्येक पद समूह से क्रमशः भावोत्कर्ष। वस्तुतः तो कीर्तन-काव्य में दो ही अंग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं, एक तो प्रधान पद-समूह जो विविध रागों में होते हैं। दूसरा अंग है कथा-पीठिका। कथा-पीठिका विवरणात्मक होती है बस बँधी-सधी। पद-समूह वाला भाग अत्यन्त लचीला होता है उसमें चाहे जितने पद उसी भाव को परिपुष्ट करने वाले सन्निविष्ट रह सकते हैं। इन पदों में ही कीर्तन काव्यकार कवि की प्रतिभा प्रकट होती है।

सूरसागर के स्वरूप के सम्बन्ध में अब यह कहा जाता है कि वह ग्रन्थ स्कंधात्मक नहीं हो सकता संग्रहात्मक होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'सूरदास के नाम पर बहुत से पद चौपाई छन्दों में बद्ध मिलते हैं। कई प्रतियों में ये चौपाई वाले पद प्राप्त नहीं होते और कई में मिल जाते हैं। सूर-साहित्य के समालोचकों के लिए यह एक समस्या हो रही है। मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच रास-लीला आदि के समय कथा-सूत्र को जोड़ने के लिए ये चौपाई बद्ध पद बाद में जोड़े गये होंगे। तुलसी के दोहों का कथा-सूत्र मिलाने में कुशल लाभ ने इसी कौशल का सहारा लिया था।'[1] इससे स्पष्ट है कि वे उसे संग्रहात्मक मानते हैं।

सूरसागर को संग्रहात्मक मानने के पक्ष में एक तर्क तो यह दिया जाता है कि संग्रहात्मक संस्करण ही अधिक मिलते हैं दूसरा कि सबसे प्राचीन प्रति संग्रहात्मक है तीसरे कि सूरदास ने प्रबन्ध-योजना से सूरसागर की रचना नहीं की उन्होंने कीर्तन की आवश्यकतानुसार पद रचना की, और चौथे कि सम्प्रदाय में संग्रह रूप में ही उनके पद प्राप्त हैं। वस्तुतः इनमें से कोई भी कारण संतोष

---

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृष्ठ १७

जनक नहीं।

संग्रहात्मक प्रतियों की अधिक संख्या का कारण उपयोगिता और सुविधा है। सूरसागर का एक उपयोग तो संगीतज्ञों के लिए था। दूसरा भक्तों के लिए। तीसरा कीर्तनियों के लिए। स्पष्ट है कि संगीतज्ञों और भक्तों के लिए किये गये संग्रहों में चुने हुए पद लेकर काम चलाया जा सकता था। ऐसे व्यक्तियों की संख्या ही अधिक होती है फलत संग्रहात्मक सागर अधिक प्रस्तुत हुए। कीर्तनियों की संख्या कम होती है अत द्वादश स्कंधात्मक प्रतियां कम है।

सबसे प्राचीन प्रति संग्रहात्मक है इसलिए सूरदास के सागर को संग्रहात्मक माना जाय यह तर्क इसलिये उचित नहीं प्रतीत होता कि ऐसे संग्रहों में बहुत थोड़े पद ही मिलते है। निश्चय ही ये थोड़े पद किसी वृहत् ग्रंथ में से लिये गये होंगे। यदि कहीं सम्पूर्ण सूरसागर मिलता और उसका रूप संग्रहात्मक होता तो इस तर्क में कुछ बल हो सकता था। स्थिति यह है कि सबसे प्राचीन संग्रह सूरपदावली नाम से जयपुर के पोथीखाने में है। यह सम्वत् १६३९ का लिखा हुआ है। इसमें गुटकाकार १६३ पत्र हैं जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर १३ पंक्तियां है और प्रत्येक पंक्ति में २० अक्षर हैं। ऐसी पोथी में २००-३०० से अधिक पदों की सम्भावना नहीं हो सकती। फिर से १६८१ की प्रति उदयपुर में पद संख्या १६३ १६६५ वाली में ४७० १६६८ वाली में ६१५ आदि आदि। इन प्रतियों के सम्बन्ध में श्री अगरचन्द नाहटा का मत समीचीन है।

इन प्रतियों में से किसी में सूर के पदों की संख्या १०० से अधिक नहीं। उदयपुर की प्रति में पद संख्या ८१२ है सं० १६६७ की प्रति इसके आधार पर श्रीयुत मेनारियाजी यह सिद्ध करना चाहते है कि सूर ने एक हजार से अधिक पद नहीं लिखे। इसके प्रमाण में वे चौरासी वैष्णव की वार्ता का सहस्त्रावधि शब्द उपस्थित करते हैं जिसका अर्थ उनके अनुसार एक सहस्त्र है। उनका यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। प्राचीन प्रतियों में सहस्त्र से अधिक पद नहीं मिले यह कथन युक्ति-संगत नहीं। यह स्पष्ट है कि इन प्राचीन प्रतियों में केवल चुने हुए पद ही हैं सम्पूर्ण पद किसी में नहीं।

प्रबन्ध-योजना सूर के समक्ष नहीं थी ऐसा नहीं माना जा सकता है। एक तो वार्त्ता में उल्लेख है कि दीक्षा के समय सूरदास को भागवत की सम्पूर्ण लीला स्फुरित हुई। दूसरे कृष्ण की लीलाओं का तो एक क्रम भागवत के अनुसार निश्चित है जो लीला-पद रचने चलेगा उसे समस्त लीला क्रम का ज्ञान होगा ही। वह पद किसी भी समय के लिखे लीला क्रम के अन्दर उसका स्थान निश्चत हो ही जायगा। अत कृष्ण चरित्र के सम्बन्ध में किसी प्रबन्ध-योजना को पूर्वत बनाने का प्रश्न ही व्यर्थ है वह योजना तो प्रस्तुत थी और भागवतानुयायी सम्प्रदाय के कवियों को उसी योजना के अन्तर्गत रचनायें प्रस्तुत करनी थीं, उसी के अनुसार सूरदासजी ने भी अपने पद प्रस्तुत किये।

सम्प्रदाय में सेवा तथा उत्सव के अवसरों की दृष्टि से जो संग्रह मिलते हैं वे स्वयं संग्रह हैं, और उनमें अष्टछाप तथा अन्य बहुत से कवियों के पद भी हैं। उन पदों में ही सूर के कतित्व की समाप्ति नहीं होती। अत उनके आधार पर सूरसागर का स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता। द्वादश स्कंधात्मक सागर के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि

१—कृष्ण की लीलाएँ स्वय एक क्रम रखती हैं और उन्हें स्वभावत उसी क्रम में स्थान पाना चाहिए। अत 'दशमस्कंध का स्वरूप तो प्रबन्ध-योजना के अनुरूप होगा ही।

२—उस युग में दशावतार वर्णन करना एक प्रसिद्ध परिपाटी थी। जो भक्ति और सम्प्रदाय से भी सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ नहीं होते थे उनमें भी दशावतार वर्णन मिल जाता है। ऐसी दशा में 'कृष्ण' का वर्णन करते हुए सूरदास उस वर्णन को कैसे त्याग सकते थे। दशमस्कंध से पूर्व के स्कंधों में इन्हीं अवतारों क वर्णन है। इस सम्बन्ध में डा० ह० प्र० द्विवेदी का यह कथन उल्लेखनीय है —

श्रीकृष्ण लीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दशावतार वर्णन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा था। मूल रासो में भी दशावतार वर्णन पर कुछ कविताएँ अवश्य रही होंगी। वर्तमान रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है।

कृष्ण-चरित्र से तो दशावतार का विशेष सम्बन्ध है जैसा जयदेव की कृति से भी सिद्ध होता है। अतः सूर को कृष्ण-परिचय की पीठिका के रूप में विविध अवतारों का उल्लेख करना ही पड़ा होगा।

१—सूर के कीर्तन-काव्य के लिए 'कथा-पीठिका' आवश्यक ही है। और कथा-पीठिका कथानक-छंद में ही ठीक दी जा सकती है। भक्तिपूर्व की सुदृढ़ परम्परा में पद्धटिका अथवा पद्धरी छंद इस प्रकार का कथानक छंद था—यह पद्धटिका गायकों के भी उपयोग की वस्तु थी। क्योंकि यह प्रत्येक राग में गायी जा सकती थी। जिनदत्त सूरि के उपदेश रसायन रास के टीकाकार ने बताया है —

अत्र पद्धटिका बंध मात्रा षोडशपादगा
अयं सर्वेपु रागेपु गीयते गीति कोविदैः।

सूरदास का 'राग बिलावल' बहुधा यह १६ मात्राओं की पद्धटिका ही है जो कथातत्व को प्रस्तुत करने के लिए दीर्घ परंपरा से उपयोगी थी, और उसका ऐसा उपयोग उस परंपरा से संपर्क रखनेवाला कवि ही कर सकता था। ऐसा कवि सूर ही हो सकता था क्योंकि आगे यह परपरा निर्जीव होती चली गयी। तुलसी में यह चरम पर अवश्य पहुंची। फलतः जिन चौपाई प्रभृति वर्णों को किसी अन्य की रचना समझा गया है, वह युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता।

अतः स्पष्ट है कि सूरदास ने सूरसागर को कीर्तन-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें कथा-काव्य का ढांचा था किन्तु प्रधान तत्व था वह भावोद्रेक, जो गेय पदों से प्रस्तुत होता था, और जिसमें पद अथवा छदों और चरणों की सीमा का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। कवि को स्वतन्त्रता होती थी कि वह किसी एक भाव को प्रभावतः पराकाष्ठा तक पहुंचाने के लिए चाहे जितने पद रच सकता था। ऐसे कीर्तन-गानों में पुनरुक्ति भी प्रभाव-पुष्ट हो सकती थी। अतः सूरसागर 'कीर्तन-काव्य' ही कहा जायगा।

इस विवेचना के उपरान्त उस आपत्ति का भी स्वयमेव निरसन हो जाता है जो यह कहती है कि यदि सूरदास को द्वादश स्कन्धात्मक सागर की रचना करनी थी तो परस्पर स्कन्धों में

इतना अन्तर न होता। दशमस्कन्ध में जहाँ ४३०६ पद हैं वहाँ शेष में क्रमश पद संख्या इस प्रकार है —

प्रथम स्कन्ध—३४३ पद। इसमें २२३ पद विनय के हैं शेष में भागवत प्रसंग का आरम्भ हैं।

द्वितीय स्कन्ध — ३८ पद
तृतीय स्कन्ध — १३ पद
चतुर्थ स्कन्ध — १३ पद
पंचम स्कन्ध — ४ पद
षष्ठ स्कन्ध — ८ पद
सप्तम स्कन्ध — ८ पद
अष्टम स्कन्ध — १७ पद

नवम स्कन्ध—१७४ इसमें राम चरित विषयक पद विशेष हैं
तथा उपसंहार में एकादशस्कन्ध—४ पद

द्वादश स्कन्ध—५ पद

क्योंकि प्रथम भी भूमिका स्वरूप है दशावतार काव्य की परिपाटी में और अन्त के दो उपसंहारात्मक। इन अन्य स्कन्धों का इतना छोटा होना ही यह सिद्ध करता है कि ये भूमिका स्वरूप हैं और कीर्तन काव्य की स्थापना को सिद्ध करते हैं।

कीर्तन-काव्य साहित्य का एक नया रूप है जो एक सामयिक आवश्यकता के कारण सूर द्वारा उद्भावित हुआ। मूलत यह संगीत के क्षेत्र से सम्बन्धित था, किन्तु सूरदास के महाकवित्व के संयोग से यह साहित्य में मान्य हुआ।

काव्य के स्वरूप के भिन्न हो जाने के कारण ही सूरसागर भागवत अनुसार होते हुए भी भागवत का न तो अनुवाद है, न मक्षिका स्थान मक्षिका रूपेण अनुसरण। भागवत के ढाँचे में महाकवि ने मुक्त हृदय से काव्य कल्पना के अनोखे और उत्कृष्ट चमत्कार प्रस्तुत किए हैं।

भक्त कवि सूरदास

सूरदास नाम के कई कवियों का उल्लेख साहित्य के इतिहासों में मिलता है। ये सभी भक्त हुए हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास और बिल्वमंगल सूरदास के वृत्त सबसे अधिक घुलमिल गये हैं। यही कारण है कि वल्लभी सूरदास को अपने हाथों अपनी आँखें फोड़ने वाला तथा कृष्ण से साक्षात्कार कर यह कहने वाला माना जाता है कि —

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि।।

सूरदास मदनमोहन के प्रेम से इन्हें अकबर का दरबारी भी किसी ने बताया था। आइने अकबरी में रामदास गवैये के पुत्र सूरदास से भी भ्रम करके इन्हें अकबर का दरबारी समझा जाता है। किन्तु यथार्थतः वह जो महाकवि हैं वह ब्रजवासी सूरदास वल्लभी पुष्टिमार्गी हैं। उनका जीवन वृत्त अब प्राय सुनिश्चित हो चुका है। वह केवल इतना है कि —

...दास सीही से पैदा हुए जन्मान्ध थे। माता-पिता के दुःख
...होकर ये मथुरा आये, वहाँ से गौघाट पर जाकर
...पर रहकर ये शिष्य बनाते थे। संगीत के लिये
...दिक फैल रहा था। एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य
...। यहीं उन्होंने सूरदास को अपने सम्प्रदाय में
...दासजी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के साथ गोवर्धन
...मंदिर में ठाकुरजी का कीर्तन करने लगे और
...चन्द्रसरोवर पर रहने लगे। वहाँ से कभी
...। यहीं परासोली में इनकी मृत्यु हुई।

इन्हीं सूरदासजी के सम्बन्ध में भक्तमाल में नाभादासजी ने लिखा है —

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी ।।
बचन प्रीति निर्वाह् अर्थ अद्भुत तुक धारी ।।
प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि हृदय हरिलीलाभासी ।।
जन्म कर्म गुन रूप सबैरसना जु प्रकासी ।।
विमल बुद्धि गुण और की जो वह गुण श्रवणनि धरै ।।
सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो नहि शिरचालन करै ।।

इन्हीं के संबंध में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि सूर सूर तुलसी ससी उडगण केशवदास इन्हीं के लिए यह प्रसिद्ध है कि तानसेन ने कहा था —

किधौं सूर को सर लग्यौ किधौं सूर की पीर
किधौं सूर को पद लग्यौ तनमन धुनत शरीर ।

भक्त महाकवि सूरदास के काव्य के सबंध में जो कुछ कहा जाय थोड़ा है ।

इनके जीवन-वृत्त से ही विदित होता है कि ये वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व भी काव्य रचना करते थे इनके उस समय की रचनाओं में दीनता का भाव विशेष रहता था । जब वल्लभा चार्यजी ने इनके पद सुने तो कहा—सूर ह्वै कै घिघियात काहे हो ? तब उन्होंनेलीला भेद बताया—

'श्रीवल्लभ प्रभु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो
ता दिन तें हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बंद"

यह लीला-भेद ही सूर के काव्य का प्रधान स्वर है । लीला-वर्णन करना कवि ने आरम्भ किया और भगवान कृष्ण की समस्त लीलाओं को उसने मधुरतम जनवाणी में उतार दिया । इस लीला-वर्णन से कवि ने निराकार को साकार कर दिया—कवि ने कहा है—

अविगति गति कछु कहत न आवै
निरालम्ब मन चकृत धावै
ताते सूर सगुण पद गावै ।

सूरदास के काव्य के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कवि, गायक और भक्त एक साथ हैं । कवि सूरदास ने कल्पना

लोक से अनेकों रत्नाभरण भावोद्दीपन के लिए प्रस्तुत कर दिये हैं जिससे काव्य में सौन्दर्य की अनूठी जगमगाहट आ गयी है। गायक ने रचना में स्वर, मादव और आत्मानुभूति भर दी है, भक्ति ने सौन्दर्य और आत्मानुभूति को अपने इष्ट देव पर न्योछावर कर दिया है। प्रत्येक कल्पना, प्रत्येक स्वर इष्ट की व्याप्ति से अलौकिक और मुग्धतापूर्ण हो आया है। किन्तु सूरदास दर्शन और तर्क का भी अधिकार पूर्वक प्रयोग करने में दक्ष हैं—इसी कारण उनमें एक बड़ी विशेषता यह मिलती है कि गंभीर होते हुए भी वे विनोदशील हैं—

'सूर बिनोदी रे मधुबनियां'

यह विनोद की भावना सूर के काव्य में आदि से अन्त तक व्याप्त है और जहां जितनी अधिक गंभीर स्थिति है, वहां उतना ही विनोद उसमें से झर पड़ता है। सूर के काव्य में विनोद की इस स्थिति को आनुपातिक भी संभवत दिखाया जा सके—

"मैया कबहिं बढ़ैगो चोटी
किती बार मोहि दूध पियत भई
यह अजहूं है छोटी

जो विनोद बाल स्वभाव से चित्रण के साथ गुंथा हुआ है वह बाल-रूप में यदि मुखरित हो तो कोई आश्चर्य नहीं पर शृंगार के प्रसंग में कवि यह कहता मिले—

बूझत स्याम कौन तू गोरी
कहां रहत काकी है बेटी देखी नहीं
कबहु ब्रज खोरी,
हम काहे को ब्रज तन आवत खेलत रहत आपनी पोरी
कानन सुनत रहत ब्रज ढोटा करत रहत दधि माखन चोरी।
तुम्हारौ कहा चोरि हम लैहैं खेलैं चलहु संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

तब विनोद का रूप कुछ और हो जाता है और जब घोर विरह पीड़ा में भी गंभीर तत्व चर्चा के साथ विनोद को समोये रहती हैं तो सूरदास के महाकवित्व पर श्रद्धा बढ़ जाती है।

सूरदास जिस युग में हुए वह भक्ति के तीव्र आन्दोलन से आन्दोलित था। भक्ति के कितने ही प्रकार, कितने ही स्वरूप,

कितन ही सम्प्रदायों के रूप में इस युग में जहां-तहां पनप रहे थे। वल्ली-मथुरा आगरा के व्रज-क्षेत्र में चैतन्य निम्बार्क हितहरिवंश के पीठ यहां स्थापित हो चुके थे। इनके स्वर व्रज के वातावरण में गूंज रहे थे। इन समस्त सगुण भक्तिवादी प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में निर्गुण भक्ति की भी अखंड धारा विद्यमान थी। इन सभी से सूरदास का परिचय किसी न किसी रूप में हुआ ही होगा। किन्तु कवि क निजी जीवन का दुर्भाग्य उसकी प्रज्ञा चक्षुता और उनके अपने जीवन के संरक्षण में पड़े-पड़े ईश्वर की अनुकंपा की अनुभूति उसे दैन्य के लिए ही विवश करती थी। उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष की शरण अपने लिये आवश्यक प्रतीत नहीं हुई। अतः व्यक्तिगत भूमि पर खड़े होकर उन्होंने दैन्य और विनय के पद रचे और गाये। इनमें आत्म निवेदन तो है पर आत्मिक आस्था से विरक्ति है। तभी वल्लभाचार्यजी ने दुत्कार कर सूरदास की प्रतिभा को एक नई दिशा दिखा दी। उनकी प्रतिभा का अनुराग जो विराग से शुष्क हो चला था, पुनः प्राणवान हो उठा—जैसे गोपियों के बहाने उन्होंने अपने ही उद्बोधन को गाया—

अखियां हरि दरसन की भूखीं

कसे रहें रूप रस माती ये बतियां सुनि रूखी

भक्त को हरि मिले साकार। इस साकार का रूप-रस रूप और रस तथा रूप का रस कवि को प्राप्त हुआ रूप आलंबन और उद्दीपन बन गया। रस उसमें से परिपक्व होकर उबल उठा। रूप के सौंदर्य-विधान में से रस प्रवाहित हुआ। सूरदास का यह रूप-सौंदर्य गत्यात्मक है— लीलात्मक है जिसका केन्द्र-बिन्दु 'रास' है। यह रास साम्प्रदायिक दृष्टि से भी चरम उपलब्धि है और कवित्व को चुनौती है। रूप और गाने का सौंदर्य दाम्य से अधिक कहां व्यक्त किया जा सकता है? कृष्ण ब्रह्म हैं वे गोपियों की आत्माओं को अपने महारास में सम्मिलित करने के लिये ही अवतीर्ण हुए हैं। महारास के लिए गोपियों की पात्रता सर्वस्व समर्पण से ही सिद्ध हो सकती है। यह सब भी कृष्ण के अनुग्रह से ही पुष्टि से ही—तभी तो सूर का मार्ग पुष्टिमार्ग है। फलतः कृष्ण को ही गोपियों के पास आना पड़ेगा—कृष्ण रास रूप में गोपियों से पास पहुंचते हैं और उन्हें आकर्षित कर लेते हैं कृष्ण

धरनि जीव जलथल के मोहे नभ मंडल सुर थाके।

\+ + + +

नारायन मुनि सुनि ललचाने, स्याम अधर सुनि बैन

कहत रमा सों सुनि रा प्यारी, विहरत हैं बन स्याम

सूर कहां हमको वैसो सुख, जो विलसति ब्रजबाम

सौंदर्य को गति प्रदान करता हुआ भक्त महाकवि उसे विविध लीलाओं में से निखारता हुआ उसे वात्सल्य और शृंगार रस से पगाता हुआ सयोग के परम उत्कर्ष स्थल 'रास' में सम्पूर्ण दिव्यता और वैभव के साथ सपूर्ण शक्ति से प्रस्तुत कर देता है–यहां गोपियों का वह सर्वस्व समर्पण करा लेता है, अब कृष्ण ही गोपियों के लिए माता–पिता–पति–पुत्र सब कुछ है। मुरली की ध्वनि से जकड़ी गोपियां जब विवश होकर कृष्ण के पास पहुंचती हैं तभी कृष्ण उन्हें उपदेश देने की ढिठाई करते हैं।

पतिव्रता और कुलशील वाली होकर यह क्या पराये पुरुष के पास इतनी रात गये चली आयीं 'लौटा जाओ'। मैं तुम्हारा कौन होता हूं? जाओ! और अब क्या गोपियों के लिए लौटना संभव है। रास में सम्मिलित होते ही वे जीवामृत हो गयीं परमहस! यही तो यथार्थ उपलब्धि है–भक्त यही चाहता है। महाकवि सूर ने इस अध्यात्मिक उपलब्धि का अपने ही लिये नहीं प्रत्येक भक्त और प्रत्येक काव्य–प्रेमी के लिए अपनी दिव्यवाणी से सिद्ध कर दिया।

और जब कृष्ण ब्रज से मथुरा चले गये, काव्य के लिए सूर में वियोग शृंगार का पक्ष प्रस्तुत हुआ पर भक्त की जीवन उपलब्धि में जीवमृत मरजीवा की यथार्थ तपस्या प्रारंभ हुई अब तक तो सहज भाव ही में कृष्ण प्राप्त हुए थे अब बुद्धि को भी कृष्ण के समक्ष झुक जाना होगा अन्यथा जीवनमृत होते हुए भी आत्मिक लाभ परिपूर्ण नहीं हो सकना बुद्धि भटकती रह जायगी।

ऊधौ मन न भये दस बीस

एक हुतौ सो गयौ स्याम सग को अवराधे ईस

मन तो चला गया रम गया, कृष्ण के साथ गया, किन्तु यह प्रतीक्षा कौन कर रहा है? "अंखियां हरि दर्शन की भूखी"

यह मूक इन भावों को कैसे कहाँ से रह गयी ? उद्धव और मधुप के रूप में ज्ञानवाद के अहं को लेकर मानो सूरदास ने अपने आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग में अपनी बुद्धि को और गोपियों की बुद्धि को ही गोपियों के सामने पेश किया। तब जिन गोपियों को हमने पहले कभी मुखर नहीं देखा उन्हें वाणी का चमत्कार उद्घाटित करते देखते हैं—वाणी के जितने भी प्रयोग हो सकते हैं—और जो वेद से प्रमाणित हैं उन सब में उसे वियोग ने गोपियों को दक्ष कर दिया है—बृहद्देवता में शौनक ने बताया है कि —

'मन्त्रा नाना प्रकाराः स्युः दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः'। और मन्त्र के इन नाना रूपों को आगे उनसे गिनाया है —

स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना ।
स्पृहाशीः कत्थना याञ्चा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका ॥
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत् ।
आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव च ॥
आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च ।
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च ॥
प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह ।
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः ॥
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च ।
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि ॥३६॥

४० के लगभग मन्त्र अथवा वाणी के प्रकार वेदों में बताये गये हैं इन सबका उपयोग इष्ट देव के कथन में होता है। इष्ट उपलब्धि के उपरांत वेदोक्त समस्त वाणी प्रकारों में गोपियों को भ्रमर गीत उद्घरित हो उठता है। ऐसा वाक् वैदग्ध्य जो काव्य रसामृत से परिप्लुत है अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। बुद्धि के पास वाणी के जितने समग्र रूप हो सकते हैं सभी में से गोपियों ने अपने साकार कृष्ण की उपलब्धि को पुष्ट कर दिया अतः बुद्धि परास्त होकर मूक गयी और यहीं हमें राधा कृष्णावेश में कृष्ण-वेश दर्शन देती हैं सूर की आत्मिक उपलब्धि का यह दूसरा पक्ष भी इस प्रकार पूर्ण हो गया। इसमें वियोग शृंगार का अमृत-

पूर्ण परिपाक स्वयमेव हो गया। भागवत की वस्तु के आश्रय से लीलाओं का साक्षात्कार करते हुए सूरसागर में कवि ने अपनी ही आध्यात्मिक यात्रा का रस से तरंगीत विवरण प्रस्तुत कर दिया है, जिसके साथ-साथ पाठक भी तादात्म्य अनुभव करता जाता है। ऐसा कवि काव्याकाश का सूर्य कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

ब्रजभाषा साहित्य में सूर

बा० हम इस बात पर सहमत हैं कि वाक्य रसात्मकं काव्य' पश्चिम के आलोचक भी इससे आगे नहीं जा सके। उन्होंने कल्पना को कुछ अधिक माम दिया है किन्तु इमोशन या भाव को वे भी अस्वीकार नहीं कर सके। भाव और इमोशन दोनों से ऊँचा और परिमार्जित है 'रस'। रस के उपकरणों में भाव-पक्ष और कला पक्ष दोनों ही आते हैं। सौभाग्य से ब्रजभाषा काव्य के दोनों ही अङ्ग पुष्ट हैं। हाँ तो हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य सूरदासजी के सम्बन्ध में कुछ कहिये।

स०—सूर का काव्य वैसे तो सागर है किन्तु ब्रजभाषा के कोमल हार्द के अनुकूल उन्होंने तीन ही रसों को विशेष महत्व दिया है—वात्सल्य शृंगार तथा शान्त। वात्सल्य में तो दुनिया का कोई कवि उनकी छांह भी नहीं छू सका है। लीजिए उसी से श्रीगणेश करें। जसे-जसे सूर के बाल-कृष्ण बढ़ते गये हैं वैसे-वैसे ही उनकी अवस्था का सूर ने वर्णन किया है, मानो आजकल के कुशल मनोवैज्ञानिक की भांति उन्होंने बालक के उन्नति क्रम की दैनिकी रक्खी हो। उनके तोतले बोलों पर यशोदा मैया न्यौछावर हो जाती हैं और मुख चूमती हैं।

'बोलत स्याम तोतरी बतियाँ हँसि-हँसि दँतियाँ द्वै में।
सूरदास वारी छबि ऊपर जननि लाल मुख चूमें।

रस शास्त्र की दृष्टि से भी इन दो पंक्तियों में सभी उपादेय सामग्री आ गयी है।

वा०—दो पंक्तियों में क्या, एक-एक वाक्य में वह रस भरा है जो उफना पड़ता है। भगवान कृष्ण की बाल-चेष्टाओं में सूर ने नन्द-यशोदा के आमोद प्रमोद का भी जो चित्र उपस्थित किया है उसे सुनिये —

कबहुँक धौरि घुटरुवनि लपकत गिरत उठत पुनि धावैरी
इतते नन्द बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावैरी
दम्पति होड करत आपस में स्याम खिलौना कीन्हौरी

अब आप कोई ऐसा पद सुनाइये जिसमें दो चार बाल क्रीड़ाओं का एक साथ वर्णन हो बाल-स्वभाव का पूरा चित्र उतर आये और जिसे वास्तव में स्वभावोक्ति कह सकें।

स०—लीजिये इस पद में आलम्बन का ही नहीं, उद्दीपनों और आश्रय के सञ्चारियों का भी पूरा पूरा वर्णन है —

हरि अपने आगें कछु गावत
तनक तनक चरनन सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत
बाँह उचाइ, काजरी-धौरी गैयन टेरि बुलावत
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत कबहुँक घर में आवत
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत
कबहुँक चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लौनी लिए खवावत
सूरस्याम के बाल चरित ये नित देखत मन भावत
कहिये, पसन्द आया ?

वा०—बड़ा सुन्दर पद सुनाया। सूर का काव्य तो सागर ही है। उसमें एक से एक बढ़िया रत्न भरे पड़े हैं। मुझे तो दो बातें बड़ी मनोवैज्ञानिक लगीं। अपने आगे कछु गावत बालक जो एकान्त में गाता है वह बहुत से नहीं गाता है और सारा आनन्द तो 'दुरि देखत' में आ गया है। यशोदा मैया जानती थीं कि यदि सामने आ जायेंगी तो बालक शरमा जायगा और फिर यह आनन्द न मिलेगा। खम्भ के पीछे मुस्कराती यशोदा की झाँकी सामने आ जाती है।

स०—जहाँ तक वात्सल्य का सम्बन्ध है स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता में तो कोई भी कवि सूर की समता नहीं कर सका है। आपने यह पद तो सुना ही होगा —

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ
मोसों कहत मोल कौ लीनों तोहि जसुमति कब जायौ
कहा करौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात

पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरौ तात
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिख देत बलवीर
तू मोही का मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति पुनि-पुनि रीझै
सुनौ कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत
सूरस्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत ।।

कृष्ण की खीझ मां की रीझ स्त्री—सुलभ सौगन्ध का आस्वादन और घरेलू वातावरण कैसा अनुपम बन पड़ा है ? इसमें माँ के हृदय के कपाट खुले हुए दिखायी देते हैं ।

वा०—माता यशोदा की मनोदशाओं के चित्रण के विषय में कुछ न पूछिये । इसमें सूर पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं । माता की स्वाभाविक आशंका और चिन्ता के अनेकों स्वरूप मिलते हैं । देखिये कृष्ण मथुरा में अपने माता–पिता के पास पहुंच गये हैं । फिर भी यशोदा की चिन्ता दूर नहीं होती । उसकी माँ को भी सिखावन दिये बिना उसको सन्तोष नहीं होता —

सँदेसौ देवकी सों कहियो ।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करती ही रहियो ।।
यदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै ।
नित उठि मेरे लाल लड़ते ए माखन रोटी भावै ।।

यों तो जो बात सूर न कृष्ण के सौन्दर्य के बारे में कही वही बात सूर के वात्सल्य वर्णन के सौन्दय के बारे में कही जा सकती है ।

जित देखौं मन भयौ तितहि कौ,
भरे भरे कौ चोर री ।

भरे भर का चोर क्या छोड़े और क्या ले जाय ? हाँ अब कुछ उनके शृङ्गार वर्णन के सम्बन्ध में कहियें ।

स०—शृङ्गार का सूर में सहज प्रेरणा जन्य आरम्भ हमें मिलता है । राधा से कृष्ण का अनायास ही साक्षात्कार हो जाता है उसे देखकर वे पूछ बैठते हैं —

बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कबहूँ ब्रज खोरी ।।
हम काहू को ब्रज तन आवत, खेलत रहत आपनी पौरी ।
सुनत रहत स्रवन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ।।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ।।

इसमें न राधा के रूप का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है न युवक-युवतियों की मूका छिपी है । एक सीधा-सच्चा परिचय है । सहज ही कृष्ण ने प्रश्न किया राधिका से । रति का बीज इस प्रश्नोत्तर में किस प्रकार भीतर ही भीतर अंकुरित और पल्लवित हुआ है ।

या०—यथार्थ में शृङ्गार रस का यह सौम्य विकास है । मिलन में तो नाटकीयता है पर उसके उपरान्त जलधि-गाम्भीर्य भर गया है । सूर की यही तो विशेषता है जो बरबस हृदय को पकड़ लेती है । जलधि-गाम्भीर्य के साथ उसकी लहरों का सा चाञ्चल्य भी है समस्त पद विनोद के भाव से जगमगा रहा है सहज प्रेरणाजन्य भाव के साथ रसिकता का मेल भी सूर ही बठा सकते हैं जो 'भुरइ' शब्द में व्यक्त हो जाता है, भोरी शब्द भी उतना ही सार्थक है । प्रेम की गहरी गाँठ यहाँ लगायी गयी है, फिर भी सब ही खेलने की यहाँ प्रेरणा है तभी इस प्रेम की जड़ ऐसी पक्की जमी है कि वह भुलाये भी नहीं भूला जाता । 'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे ।

स०—इस प्रकार प्रेम को वात्सल्य के घरे से निकाल कर राधा के सहारे रति का रूप सूर ने दे दिया और अब तो प्रेम की पाटी में सब कुछ ज्ञान बालों ने स्वयं ही प्राप्त कर लिया । कदम्ब का वृक्ष यमुना पुलिन कृष्ण और उनके हाथ में मुरली—इस मुरली ने तो बड़ा गजब ढाया है । संयोग-शृङ्गार के उद्दीपन में मुरली ध्वनि क्या है ? कृष्ण को स्वयं दूत बना देने वाली है । गोपियाँ उनके अधर से लगी हुई मुरली से सौतिया डाह करने लगती हैं । 'मुरली तऊ गोपालहि भावति' । रूप-सौन्दर्य, दधि-दान मुरली-माधुरी, रास नृत्य, मान और हास्य सभी संयोग-पक्ष के विकास की विविध अवस्थायें हैं एक से एक अनोखे पद हैं जिन

किन का उल्लेख किया जाय ?

बा०—सचमुच ऐसा ही है। सूर के प्रेम की विशेषता यह रही है कि वह उनके जीवन-व्यापार से अनुस्यूत रहा। वियोग-पक्ष में भी सूर अनुपम ही हैं।

स०—वियोग-शृङ्गार के वर्णन में तो इस कवि ने संयोग शृङ्गार से भी अधिक विलक्षणता दिखायी है। उसमें विरह का तो पूर्ण-परिपाक है ही गोपियों का सोंदर्य-दिल न आने कितनी ठसों से चूर-चूर हो चुका है उसे एक भारी चोट तब लगी जब वर्षा आ गयी। ओह ! वर्षा वियोगिनियों के लिए नहीं तभी तो अत्यन्त टूटे हृदय से अपने अवरुद्ध हृदयोच्छ्वास छोड़ती हुई गोपी कहती है —

बरु ए बदराहू बरसन आये।
अपनी अवधि जानि नँदनन्दन
गरजि गगन घन छाये।

'बरु' शब्द को देखिये। यह गोपियों की दीनदशा पर बरबस रुलाई से आता है। वर्षा में तो सभी परदेशी आ जाते हैं तो क्या बादल बदराहू बादर आ गये और कृष्ण नहीं आये। शोक और वेदना की कहीं सीमा है ?

सुनियत है सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराये

ऐसे होते हुए भी ये बादल तो आ गये पर स्ववश होते हुए भी 'मधुबन बसत' कृष्ण नहीं आये। इन्होंने आकर 'तृण किए हरित हरषि बेली मिलि दादुर मृतक जिवाए।'—वियोगिनियों के लिये दूसरों का संयोग-सुख विष से भी विषम होता है।

बा०—एक विरह का पद मुझे भी स्मरण हो आया —

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें
तब ये लता लगति अति सीतल
अब भई विषम ज्वाल की पुंजें
× × × ×
पवन पानि घनसार संजीवन,
दधि सुत किरन भानु भई भुंजें
× × × ×

सूरदास प्रभु को मग जोवत
अँखियाँ भई बरन जिमि गुंजे

जो उद्दीपन संयोग-सुखद होते हैं वही विरह में दुखद होते हैं। इस पद में माधुर्य गुण के साथ उद्दीपनों की विपरीत गति सूरदासजी न चित्रित कर दी है और रोते आँखों के लिए गुंजा अर्थात् घुँमची से अधिक फबती हुई उपमा और कौन सी हो सकती है।

स०—ये तो विरह की पीड़ा के दिग्दर्शक पद हैं। सूर ने तो वियोग शृंगार के वर्णन में सगुण पक्ष का समर्थन भी काव्यमय रूप से करा दिया है। भ्रमरगीत की रचना इसीलिए हुई है। भ्रमर गीत भी विश्व-साहित्य की अनूठी वस्तु है।

बा०—भ्रमरगीत का अच्छा स्मरण दिलाया। इसमें गोपियों की सजीवता और उनके हास्य-व्यंग्य अनूठे हैं—हरि सों भली सो पति सीता को—दूत हाथ उन लिखि न पठायो गूढ़ ज्ञान गीता को।' ऊधो को लक्ष्य करके बिचारे भौंरे को ऐसी करारी डाट दी गयी है कि उसको छठी का दूध याद आ गया होगा। 'रहु रे मधुकर मधुमतवारे कहा करौं हौं निरगुन लेके जीवहु कान्ह हमारे। इस फटकार में भी कृष्ण के व्यक्तित्व के प्रति अनन्यता का भाव व्यंजित है। प्रेम में व्यक्तित्व का मान ही तो उसे लोभ और वासना से ऊँचा उठा देता है —

ऊधो! तुम अति चतुर सुजान
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग
तिन्हैं न चढ़ै रँग आन
द्वै लोचन जो बिरद किए
स्रुति गावत एक समान
भेद चकोर कियो तिनहूँ में
बिधु प्रीतम, रिपु भान

स०—यथार्थ है। चन्द्र चकोर की सी अनन्यता का प्रेम ही भक्ति में परिणत हो जाता है।

बा०—वैसे तो उनका शृंगार और वात्सल्य भी दास्य का भी भक्ष रहा है पर व अपनी विनय की दीनता और शरणागति

भावना में तुलसी से पीछे न थे। 'सूरदास द्वारे ठाढ़ो आंधरो भिखारी' में उनका भाव उच्च स्वर में मुखरित हो उठा है। उनकी भाषा की सहज सुषमा और चमत्कारिकता ने उनके भावों को बल प्रदान कर उनको ब्रजभाषा काव्य में शीर्ष स्थान प्रदान किया है, किन्तु इस सौर मण्डल की परिधि में घूमने वाले अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इस भाषा की श्रीवृद्धि की है। वात्सल्य, शृंगार और शान्त में ब्रजभाषा की मार्मिक क्षमता देखकर अवध और अवधी के अनन्य भक्त तुलसीदासजी ने भी अपनी गीतावली और विनयपत्रिका में ब्रजभाषा को अपनाया है। जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले।

— १७ —

सूर काव्य की जन-वाणी

सूरदास हिन्दी के महाकवि हैं और यह पद यों ही नहीं मिल गया। 'सूर-सूर तुलसी शशी' आदि पर बहुत विवाद हुआ है, और भाँति भाँति से सूर और तुलसी के काव्य को हृदयंगम करने की चेष्टा की गयी है। प्राचीन आलोचकों और समीक्षकों ने तो प्राय ऐसा ही मत प्रकट किया है कि 'तत्व तत्व सूरा कही'। हमें यहाँ इन सब विवादों से अभिप्राय नहीं। हम तो जिस बात की ओर आज ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि सूर काव्य की वाणी जन-वाणी है।

काव्य के अर्थ को ग्रहण करने के लिए प्रत्येक काव्य का विश्लेषण करके हमें उस काव्य के मूल तत्वों पर विचार करना होता है। सूर के काव्य के मुख्य तत्व ये हैं —

१ काव्य के अवलम्ब कृष्ण हैं। कृष्ण-कथा सूर के काव्य का आधार है।

२ कृष्ण कथा को सूर द्वारा दिया गया प्रयोजन।

३ उस प्रयोजन को प्रकट करने की शैली के उपकरण।

इन तीनों तत्वों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न तो यह है कि सूरदास के लिए कृष्ण-कथा महत्वपूर्ण है अथवा उसको दिया हुआ प्रयोजन। सूरदास वल्लभाचार्यजी से पूर्व भी काव्य रचना करते थे। पर कृष्ण को अपने काव्य का विषय उन्होंने वल्लभाचार्यजी के परामर्श से ही बनाया। तो क्या वह कृष्ण कथा के महत्व के कारण? कृष्ण-कथा से वे अपरिचित तो नहीं रहे होंगे, न राम कथा से ही। ढूंढने पर इसके प्रमाण मिल सकते हैं कि ये दोनों वृत्त उस समय अत्यन्त प्रचलित थे। फिर यह भी स्पष्ट है कि सूरदास कोई सूत्र-बद्ध कथा नहीं कह रहे। इसी के कारण

तो वे प्रबन्ध काव्यकारों की पंक्ति में नहीं आते। अतः कृष्ण-कथा से अधिक सूर के लिए प्रयोजन का महत्त्व था। उस प्रयोजन के लिए पहला माध्यम कृष्ण-कथा थी और दूसरा शैली—काव्य शैली।

तो वह अभिप्राय क्या था? वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रचार या स्वरूप निर्माण या क्या? आज तक संसार का कोई भी महान् कवि और उसका काव्य 'सम्प्रदाय' जैसी सीमाओं से घिर कर नहीं चल सका है। सूर के रस के आस्वाद के समय कहीं भी किंचित भी साम्प्रदायिकता के आभास से भी झिझकिझाहट नहीं उत्पन्न होती। सूर की वाणी में सबको अपना ही हृदय-स्पन्दन मिलता है। यही कारण है कि सूर ने अपनी वाणी के अभिप्राय के लिए कृष्ण-कथा की एक विशेष व्याख्या प्रस्तुत करदी है।

सूर ने कृष्ण-कथा में भी अपने प्रयोजन की अनुरूपता पायी अवश्य। यही कारण ह कि वे कृष्ण के सखा बन गये। कृष्ण-कथा की ही यह विशेषता ह कि इसका नायक समाज के बहुत साधारण निम्न स्तर से अपना कार्यारम्भ करता ह। इसी लिए सूर की रचना में जन-जन का साम्य उद्घोषित हो रहा है। इसके प्रमाण के लिए सूर की वाणी से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सबसे शक्ति-पूर्ण तो वह पद है जिसमें सूर के ग्वाल कृष्ण के समक्ष ही धृष्टता-पूर्वक कहते ह —

खेलत में को काको गुसइयाँ

अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

'तुम्हारे गायें कुछ अधिक हैं सम्पत्ति अधिक है उसके बल से हो इसीलिए अधिकार दिखाते हो। सूरदास सम्पत्ति के इस विषम बटवारे के महत्त्व का पारस्परिक सामाजिक जीवन में इस पद के द्वारा एक दम अस्वीकार कर देते हैं।

किन्तु बात सम्पत्ति के रौब की ही नहीं। भिन्न शक्तियों के गर्व की भी हो सकती है। उसमें भी भेद स विकार होता ह। तभी सूरदास कृष्ण को ललकार कर कहते हैं —

आजु हौ एक-एक कर टरिहौं।

कै हौं ही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।

कृष्ण से इस लड़ाई का और अपने भरोसे का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक रहस्य की बात रहने दीजिये। इन पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो उठता है। यही कारण है कि सूर की वाणी बाल-कृष्ण के साथ और गोपी-कृष्ण के साथ खूब चहकी है। प्रेम और गुण मोह तथा साम्य के अधिकार के अतिरिक्त और कोई अधिकार सूर और उनकी गोपियाँ मानने को तैयार नहीं। दधि-लीला में अथवा दान-लीला में कृष्ण के दान माँगते ही वे कृष्ण को चैलेंज कर उठती हैं। राजनीतिक भाषा में ही कि यह आप किस अधिकार से कर रहे हैं?

और कृष्ण जब इस साम्य भूमि को छोड़कर मथुरा में कंस को मार कर राजा बन बैठते हैं तो सूर की वाणी में गहन वेदना, विषाद और व्यंग आ जाता है। वह समस्त व्यंग पूँजीपतियों और सामन्तवादियों के लिए उभरा हुआ व्यंग हो गया है, और गोपियाँ कृष्ण को अत्यन्त स्नेह करती हुई भी इसी कारण थोड़ा अन्तर रहते हुए भी मथुरा नहीं गयीं, जिस पर साहित्य के विचारकों ने कितने ही अपवाद लगाये थे और सूर का उपहास किया था। पर गोपियाँ तो उद्धव से भी यही कहती हैं —

अँखियाँ हरिदर्शन की भूखीं

मारग वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिअत पतूखी।

इसमें कवि ने गोपियों के मन में जिस कृष्ण के दर्शन की आकांक्षा प्रकट की है वह पत्ते के दोने में दुह कर दूध पीने वाला कृष्ण है ठेठ ग्रामीण और उन गोप-ग्वालों से अभिन्न मथुरा का वह कृष्ण नहीं जो सोने की थाली गंगा जल पानी' का उपयोग करता है सूर के साम्य भाव का आदर्श इस प्रकार महाराज कृष्ण को सामान्य जन के रूप में दर्शन करना चाहता है। गोपियों के विरह का सारा मर्म यही है। उन्हें स्पष्ट विदित हो गया कि उन का कृष्ण उनके हाथ से चला गया क्योंकि जिस *निर्गुण का उपदेश देने उद्धवजी आये हैं वह निर्गुण तो बहाना* है यथार्थ में तो इस संदेश में तो यह व्यंग है कि तुम जिस गोपाल कृष्ण को चाहती हो वह अब तुम से नहीं मिलने का।

यही नहीं कि कृष्ण को ग्वाल बालों के साथ लीला करते

दिखलाते समय ही सूरदास ने इस साधारण जन की भाव भूमि से ही एक साम्य भाव उदघोषित किया हो। वरन् वे तो दार्शनिक दृष्टि से भी उस विचार प्रणाली को नहीं ग्रहण करना चाहते जो इस नाम रूपात्मक जगत को अवहेलना योग्य समझती है और इससे भिन्न किसी निर्गुण सत्ता का प्रदर्शन करना चाहती है। सूरदास की भक्ति का आदर्श गोपी-ग्वालों की भक्ति है, किसी सत-महन्त की नहीं इसीलिए वे कहते हैं —

अविगत गति कछु कहत न आवै

  

निरालम्ब मन चकृत धावै

ताते सूर सगुण पद गावै।

इसीलिए वे पूछते हैं कि निगुण कौन देस को वासी ? ऐसे दार्शनिक विचार-गर्भित पदों में विश्लेषण करने पर सूर के किसी साम्प्रदायिक रंग का भी दर्शन हो सकता है। किन्तु कवि कवि है। मानवीय शुद्ध असाम्प्रदायिक दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर किसी एसे दर्शन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं जो किसी भी प्रकार का भेद उत्पन्न करे। इसीलिए उन्होंने जगत को सत्य माना और कृष्ण को साकार रूप में हृदयगम किया। यही कारण है कि सूर की वाणी जन-जन की वाणी हो जाती है। इसी के साथ सूर की भाषा का भी स्वरूप जन-वाणी का स्वरूप है। ब्रज भाषा में होते हुए भी और आज इतनी शताब्दियों के बीत जाने पर भी सूर की वाणी का प्रसाद गुण आज भी बेपढ़ों तक के हृदय और मस्तिष्क क लिए सम्प्रेषणीयता रखता ह। 'मैया मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी' जैसे अनेकों पद सूरदास में हैं जिनको सूरदास के समय क लोग आसानी से समझ ही लेते होंगे आज भी उन्हें सहज ही समझ लिया जा सकता है।

सूर के साम्प्रदायिक और आलकारिक स्वरूप को नकाब को उलट कर देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस युग में भी सूर ने किस प्रकार जन-वाणी को अभिव्यक्ति किया।

कृष्ण से इस लड़ाई का और अपने भरोसे का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक रहस्य की बात रहने दीजिये। इन पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो उठता है। यही कारण है कि सूर की वाणी बाल-कृष्ण के साथ और गोपी-कृष्ण के साथ खूब चहकी है। प्रेम और गुण मोह तथा साम्य के अधिकार के अतिरिक्त और कोई अधिकार सूर और उनकी गोपियाँ मानने को तैयार नहीं। दधि-लीला में अथवा दान लीला में कृष्ण के दान मांगते ही वे कृष्ण को बेसँभ कर उठती हैं। राजनीतिक भाषा में ही कि यह आप किस अधिकार से कर रहे हैं?

और कृष्ण जब इस साम्य भूमि को छोड़कर मथुरा में कंस को मार कर राजा बन बठते है तो सूर की वाणी में गहन वेदना, विषाद और व्यंग आ जाता है। वह समस्त व्यंग पूँजीपतियों और सामन्तवादियों के लिए उभरा हुआ व्यंग हो गया है और गोपियाँ कृष्ण को अत्यन्त स्नेह करती हुई भी इसी कारण थोड़ा अन्तर रहते हुए भी मथुरा नहीं गयीं, जिस पर साहित्य के विचारकों ने कितने ही अपवाद लगाये थे और सूर का उपहास किया था। पर गोपियाँ तो उद्धव से भी यही कहती हैं —

अँखियाँ हरिदर्शन की भूखीं

...

बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी।

इसमें कवि ने गोपियों के मन में जिस कृष्ण के दर्शन की आकांक्षा प्रकट की है वह पत्ते के दोने में दुह कर दूध पीने वाला कृष्ण है ठठ ग्रामीण और उन गोप-ग्वालों से अभिन्न मथुरा का वह कृष्ण नहीं जो 'सोने की थारी गंगा जल पानी' का उपयोग करता है सूर के साम्य भाव का आदर्श इस प्रकार महाराज कृष्ण का सामान्य जन के रूप में दर्शन करना चाहता है। गोपियों के विरह का सारा मर्म यही है। उन्हें स्पष्ट विदित हो गया कि उन का कृष्ण उनके हाथ से चला गया क्योंकि जिस निर्गुण का उपदेश देने उद्धवजी आये है वह निर्गुण तो बहाना है यथार्थ में तो इस संदेश में तो यह व्यंग है कि तुम जिस गोपाल कृष्ण को चाहती हो वह अब तुम से नहीं मिलने का।

यही नहीं कि कृष्ण का ग्वाल बालों के साथ लीला करते

जाते हैं पर भावना सम्बन्धी अनुष्ठान अवश्य रहते हैं जो विधियाँ कर्मकाण्ड से साधना भक्ति के लिए की जाती हैं ये ही मानसिक भक्ति में भावना द्वारा सम्पन्न की जाती है किन्तु प्रेमा भक्ति में ऐसे किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती एक मात्र प्रेम की ही मान्यता हो जाती है।

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहिं पइये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम कौ जीवन मुक्ति रसाल।
सांचौ निश्चय प्रेम कौ जिहि तें मिलै गोपाल।

इस प्रकार इस प्रेम भक्ति में साध्य और साधन में अभेद हो जाता है यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं हो पाती। सूर ने इसी प्रेमा भक्ति का सूरसागर के द्वारा प्रस्तुत किया प्रेम की ओर प्रेमा भक्ति की दुहाई कबीर ने भी दी —

कहैं कबीर जन भये खालसे
प्रेम भगति जिन जाना।

किन्तु कबीर का यह प्रेम निराकार का प्रेम था। जायसी ने भी प्रेम की पीर की व्यवस्था की पर इन्होंने भी सांसारिक प्रेम से ही चुराया और आध्यात्मिक प्रेम की बात कही। सूरदासजी ने प्रेम के न तो सांसारिक रूप की ही अप्रतिष्ठा की न आध्या- त्मिक की ही उन्होंने ही वस्तुतः भक्ति को इस स्थिति तक पहुँचाया क्योंकि इन्होंने शृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया। कृष्ण उनके अवलम्ब थे यह कृष्ण स्वयं ब्रह्म थे ब्रह्म के अवतार नहीं थे और ये साकार शरीर कृष्ण ही ब्रह्म थे। महत्तम साध्य उद्धव से गोपियाँ पूछती है —

हो तुम कहत कौन की बातें?
सुन ऊधौ हम समुझत नाहीं फिरि बूझत हैं तातें
यहाँ तो वे गोपियाँ यह भी नहीं समझतीं कि —
को नृप भया?
कंस किन मारयो?
को बसुदेव सुत आहि?

सूरदास और शृंगार

यह सर्वमान्य है कि सूरदास भक्त हैं। उनकी भक्ति भावना ने ही काव्यमय शरीर धारण किया, और सूरसागर जैसी अनूठी कृति हिन्दी साहित्य को ही नहीं विश्व साहित्य को मिल सकी। सूरसागर की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस में शृंगार रस का विश्व परक भावभूमि को भक्ति की उच्चतम भव्यता से अभिमंडित कर दिया। शृंगार रस या रतिभाव विश्व भर के साहित्यक का प्राण है। भारत में कृष्ण सम्प्रदाय के अतिरिक्त विश्व में अन्यत्र कहीं इस को इस प्रकार सौम्य और भव्य (सबलाइमेट) करने की ऐसी चेष्टा नहीं की गयी। मन्मथप्रेम में दिव्यता लाने की चेष्टा की गयी है अन्य धर्म के इस विकार का पवित्रता और पावनता शरीरी धर्म के स्वरूप में ही देने के प्रयत्न भी हुए हैं, पर उसे आध्यात्मिक स्तर पर कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया जा सका यह सूर ने किया।

भक्ति रस शास्त्र में साधारणतः उसमें भक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है। साधना भक्ति, भावना भक्ति, तथा प्रेमा भक्ति। साधना भक्ति के दो भेद होते हैं वैधी और रागानुगा। वैष्णव धर्म के प्रभाव से भक्ति ने इतनी प्रबलता प्राप्त की, कि जो भक्ति भरत मुनि के समय में शान्त रस के अन्तर्गत समाविष्ट थी जिस ग्यारहवीं शताब्दी में मम्मट ने रति देवादिविषया व्यभिचारी (काव्य प्रकाश) कह कर केवल देवादि विषय वर्णाजित भाव। पर रति कह कर मात्र भाव माना वही सत्रहवीं शताब्दी में रस का स्थान पा गयी और उस पर अनेकों शास्त्र रचे गये। इसी भक्ति में हमें साधना से भावना और भावना से प्रेमा की उत्कृष्टता विदित होती है। साधना भक्ति में भौतिक अनुष्ठानों का प्राधान्य रहता है भावना में भौतिक अनुष्ठान तो गौण हो

जाते हैं पर भावना सम्बन्धी अनुष्ठान अवश्य रहते हैं, जो विधियाँ कर्मकाण्ड से साधना भक्ति के लिए की जाती हैं वे ही मानसिक भक्ति में भावना द्वारा सम्पन्न की जाती हैं किन्तु प्रेमा भक्ति में ऐसे किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती एक मात्र प्रेम की ही मान्यता हो जाती है।

प्रेम प्रेम से होइ प्रेम ते पारहिं पइये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जहि रे मिले गोपाल।

इस प्रकार इस प्रेम भक्ति में साध्य और साधन में अभेद हो जाता है यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं हो पाती। सूर ने इसी प्रेमा भक्ति का सूरसागर के द्वारा प्रस्तुत किया, प्रेम की और प्रेमा भक्ति की दुहाई कबीर ने भी दी —

कहै कबीर जन भये खालसे
प्रेम भगति जिन जानी।

किन्तु कबीर का यह प्रेम निराधार का प्रेम था। जायसी ने भी प्रेम को पीर की व्यवस्था की पर इन्होंने भी सांसारिक प्रेम से ही चुराया और आध्यात्मिक प्रेम की बात कही। सूरदासजी ने प्रेम के मनसो सांसारिक रूप की ही प्रतिष्ठा की न आध्या-त्मिक की ही उन्होंने ही वस्तुतः भक्ति को इस स्थिति तक पहुँचाया क्योंकि इन्होंने शृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया। कृष्ण उनके अवलम्ब थे यह कृष्ण स्वयं ब्रह्म थे ब्रह्म के अवतार नहीं थे और ये साकार शरीर कृष्ण ही ब्रह्म थे महत्तम साध्य, उद्धव से गोपियाँ पूछती हैं —

ह्याँ तुम कहत कौन की बातें?
सुन ऊधौ हम समुझत नाहीं फिरि बूझत हैं ताते
यहाँ तो वे गोपियाँ यह भी नहीं समझती कि —
को नृप भयो?
कंस किन मार्यो?
को वसुदेव सुत आहि?

किन्तु सब से अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानतीं कि —

को अविनासी अगम अगोचर ?

को बिधि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि—

यह इहि गोब न समुझत कोउ कैसो निर्गुण होत

यहाँ निर्गुण को कोई भी नहीं जानता, तभी वे पूछ बैठती हैं,

निर्गुण कौन देस को बासी,

पूछती ही नहीं वे उद्धव से निस्संकोच कहती हैं —

सुनिहैं कथा कौन निर्गुण की रचिपचि बात बनावत,

क्योंकि सगुन सुमेरु प्रगट देखियत तुम तृण की ओट दुरावत,

यह सगुण सुमेरु, जिसे गोपियाँ प्रगट देखती हैं, यशोदा सुत नन्दकुमार के अतिरिक्त और कौन है ?

ह्याँ मधुराधुत परम मनोहर जीवत हैं मुख चाहि

नित प्रति आवत धेनु बन चारन गोप सखन क सग,

सूर की यह धारणाएँ जो गोपियों के मुख से निकली हैं निर्गुण का निवारण कर देती हैं। ब्रह्म और यशोदा सुत नन्दकुमार कृष्ण एक हो जाते हैं और राधाकृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से ओतप्रोत रहता हुआ, भी शृंगार रस की रति को पर्याप्त हो जाता ह। इस प्रकार भक्ति का शृंगार रस से कोई भिन्न स्वरूप शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। सूरदासजी ने इस रति को भाव की कोटि में जाने से बचाने के लिए अपनी रचना में दाम्पत्य रति, स्त्री-पुरुष की रति—का ही प्रतिपादन किया है। उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के नायक कृष्ण हैं, और नायिका राधा तथा गोपियाँ, किन्तु क्या गोपियाँ वस्तुत नायिकाएँ हैं ? राधा और गोपियों की कहानी अलग-अलग है। गोपियों ने कृष्ण को उनके जन्म समय से ही अपने बीच में पाया है। उनका प्रेम, उसमें वात्सल्य से शृंगार की

मोर अग्रसर हुआ है। दान लीला प्रकरण में गोपियां कहती हैं —

मन्द सुवन यह बात कहावत

आपुन जोबनदान लेत हैं तापर आइ छोइ सखन सिखावत।

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय

जिन गोपिया म हैं वे सब विवाहिता हैं पर नारी हैं। वे कृष्ण की

भर्त्सना भी इसी समय पर इन शब्दों में करती हैं—

'सखा लिये तुम करत पुनि पुनि बन भीतर सब तुम पर मारि

पराई मत' गोपियों में परकीयात्व के साथ कृष्ण पातिव्रत्य

है, कृष्ण गोपियों को बताते हैं —

तुम पति कियी मोहि को मन दे म ही अन्तर्यामी

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियां कृष्ण से उम्र

में बड़ी हैं। वे कृष्ण का ध्यान उनकी उम्र की ओर भी आकर्षित

करती हैं —

कहा भये अति ढीट कन्हाई,

ऐसी बात कहत सकुचत नहिं कहु धौं अपनी लाज गवांई,

बहुत हुए दसहिं बरस के बात कहत ही बनै बनाई।

कृष्ण नायक गोपी समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं।

ायक एक, और नायिकाएँ संख्या में इतनी ? यह स्थिति शृंगार

रस के लिए कुछ अटपटी है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण की असो

किकता का किंचित सहारा लेकर गोपी-कृष्ण की इस रति को भी

पूर्णत' फलित सिद्ध किया है पहले मानसिक क्षेत्र में,

'अन्तर्यामी जानि लई

मन में मिले सबनि सुख दीने तब तनु की कुछ सुरति भई,

और तब शरीर के क्षेत्र में। इस समस्त परिपाक से भी शृंगार

रस के रतिभाव में आवश्यक यथार्थ चमत्कार उत्पन्न नहीं होता

रति सौष्ठव बिखर जाता है किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदा

यों ही छोड़ नहीं सकते। चीरहरण से जिस रतिभाव का गो

कृष्ण में आरम्भ होता है, संयोग शृंगार में वह रासलीला

पराकाष्ठा पर पहुँचता है। दान-लीला में कृष्ण इस चीरह

का उल्लख कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव को उद्दीप्त

किन्तु सब से अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानतीं कि —

को अविनासी अगम अगोचर ?

को विधि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि—

यह इहि गाँव न समुझत कोउ कैसी निर्गुण होत

यहाँ निर्गुण को कोई भी नहीं जानता तभी व पूछ बैठती हैं,

निगुण कौन देश को वासी

पूछती ही नहीं वे उद्धव से निस्संकोच कहती हैं —

सुनिहैं कथा कौन निर्गुण की रचिपचि बात बनावत,

क्योंकि सगुन सुमेरु प्रगट देखियत तुम तृण की ओट दुरावत,

यह सगुन सुमेरु जिसे गोपियाँ प्रगट देखती हैं यशोदा सुत नन्दकुमार के अतिरिक्त और कौन है ?

हाँ यशुदासुत परम मनोहर जीवत है मुख चाहि

नित प्रति जात धेनु बन चारन गोप सखन के संग,

सूर की यह धारणाएँ जो गोपियों के मुख से निकली हैं निर्गुण का निवारण कर देती हैं। ब्रह्म और यशोदा सुत नन्दकुमार कृष्ण एक हो जाते हैं और राधाकृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से ओतप्रोत रहता हुआ, भी शृंगार रस की रति को पर्याप्त हो जाता ह। इस प्रकार भक्ति का शृंगार रस से कोई भिन्न स्वरूप शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। सूरदासजी ने इस रति को भाव की कोटि में जाने स बचाने के लिए अपनी रचना में दाम्पत्य रति, स्त्री-पुरुष की रति—का ही प्रतिपादन किया है। उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के नायक कृष्ण हैं और नायिका राधा तथा गोपियाँ, किन्तु क्या गोपियाँ वस्तुतः नायिकाएँ हैं ? राधा और गोपियों की कहानी अलग-अलग हैं। गोपियों ने कृष्ण का उनके जन्म समय से ही अपने बीच में पाया है। उनका प्रेम, उनमें वात्सल्य स शृंगार की

ओर अग्रसर हुआ ह । दान लीला प्रकरण में गोपियां कहती हैं —

मन्द सुवन यह बात कहावत,

आपुन जोवनदान लेत हैं तापर जाइ सोइ सखन सिखावत ।

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय जिन गोपियों में है वे सब विवाहिता हैं पर नारी हैं। वे कृष्ण की भर्त्सना भी इसी समय पर इन शब्दों में करती हैं—

'सखा लिये तुम भरत पुनि पुनि बन औसर सब तुम पर नारि

'पराई' अत गोपियों में परकीयात्व के साथ कृष्ण पातिव्रत्य है, कृष्ण गोपियों को बताते ह —

तुम पति कियौ मोहि को मन दे मैं हौ अन्तर्यामी

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियां कृष्ण से उम्र में बड़ी हैं । व कृष्ण का ध्यान उनकी उम्र की ओर भी आकर्षित करती है —

कहा भये अति ढीट कन्हाई,

ऐसी बात कहत सकुचत नहिं कह धौं अपनी लाज गवाई,

बहुत हुए बरसहि बरस के बात कहत ही बनै बनाई ।

कृष्ण नायक गोपी समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं । नायक एक और नायिकाएं सख्या में इतनी ? यह स्थिति शृंगार रस के लिए कुछ अटपटी है । यद्यपि सूरदास ने कृष्ण को अलौकिकता का किंचित सहारा लेकर गोपी-कृष्ण की इस रति को भी पूर्णत फलित सिद्ध किया है, पहले मानसिक क्षेत्र में,

'अन्तर्यामी जानि लई'

मन में मिले सबनि सुख दीने तब तनु की कुछ सुरति भई, और तब शरीर के क्षेत्र म । इस समस्त परिपाक से भी शृंगार रस के रतिभाव में आवश्यक यथार्थ चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, रति सौष्ठव बिखर जाता है, किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदास यों ही छोड़ नहीं सकते । चीरहरण से जिस रतिभाव का गोपी कृष्ण में आरम्भ होता है सयोग शृंगार में वह रासलीला में पराकाष्ठा पर पहुँचता है । दान-लीला में कृष्ण इस चीरहरण का उल्लेख कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव को उद्दीप्त कर देते हैं —

सबै रहीं जल माझ उघारी,

कसे हासि भये तब सब के सो सुम सुरति बिसारी,

इस घटना के स्मरण का गोपियों पर यथोचित प्रभाव पड़ता है और दानलीला सम्पन्न हो जाने पर गोपियां सुख अनुभव करती हुई सोचती हैं —

जो हम साथ करति अपने मन सो सुख पायौ नीके,

दान-लीला और पनघट लीला में संयोग शृंगार का शरीर विलास आरम्भ होता है। मन और शरीर के इस अद्भुत प्रयास में मुरली न केवल दूती का कार्य करती है वरन उद्दीपन का काम करती है।

इस विधि से मन के साथ शरीर कृष्ण के अर्पण हुआ मुरली ने मन और शरीर में एक अनोखी उमंग भर दी, मन नाचने लगा तो शरीर बिना नृत्य किये कैसे रहे नृत्य शरीरावयवी कला विलास का श्रेष्ठतम और उच्चतम रूप है इसी नृत्य की परिणति रास में हुई।

गोपियों के प्रेम अथवा रतिभाव की रास में परिणति हुए बिना कृष्ण गोपी भाव की उपलब्धि पूर्ण नहीं हो सकती थी। गोपियों के इस व्यवहार ही में तो प्रेम की अमर्यादा का वास्तविक सन्देश है, मुरली ध्वनि में सुधि बिसरा कर सर्वस्व समर्पण के लिए सन्नद्ध गोपिकाएँ जब कृष्ण के पास विह्वल आ पहुँचीं तो कृष्ण ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया —

यह युवतिन कौ धर्म न होई,

किन्तु गोपियां तो मर्यादा त्याग चुकी थीं तब कृष्ण ने उनकी यथार्थ महानता प्रकट की —

स्याम हँसि बोले प्रभुता डारि,

तुम सन्मुख मैं विमुख तुम्हारी मैं असाध तुम साध,

गोपियों के इस शृंगार रस प्रतिपादन का महत्त्व इसी अमर्यादा की स्थापना की दृष्टि से है किन्तु शृंगार रस की उत्कृष्टता एक नायक में अवलम्ब-आश्रय और नायिका में आश्रय अवलंब में जितनी उभरती है उतनी उस स्थिति में नहीं जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। अतः सूरदासजी ने राधा की

उद्भावना की ओर राधा के प्रेम और रति के लिए गोपिकाओं की इस समस्त शृंगार रस-लीला को पृष्ठभूमि का रूप दे डाला। गोपियों की इस पृष्ठभूमि में राधा का प्रेम अनोखे ढंग से प्रस्फुरित पल्लवित और फलित हुआ है। गोपियों के प्रेम-सागर के मथन में जैसे राधा प्रेम रस-रूपिणी लक्ष्मी की भांति अवतीर्ण हुई दीखती है। राधा अनायास ही ब्रज की गलियों में आ जाती है। कृष्ण की उन पर दृष्टि पड़ती है और कृष्ण अनायास ही उन पर रीझ जाते हैं

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी
गये स्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी
औचक ही देखी तहां राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठि रुचिर झकझोरी
संग लरिकिनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगौरी।

तब कृष्ण ने राधा से पूछा

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहां रहति काकी है बेटी ? देखी नाहिं कबहु ब्रज खोरी ?

तो राधा उत्तर देती है

काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी
सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी

इस माखन दधि चोरी की मार्मिक चोट से मर्माहत कृष्ण बड़ी युक्ति से राधा से कहते हैं

तुम्हारी कहा चोरि हम लैहै खेलन चलौ संग मिलि जोरी
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।

और इस प्रथम संभाषण और मिलन के उपरान्त तो भोरी राधिका और कृष्ण शृंगार लीला में दक्ष हो गये। 'प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यो'। यह प्रथम स्नेह धीरे धीरे प्रगाढ़ और गूढ़ होता गया।

राधा का यह प्रेम स्वकीयात्व प्रेम है और अन्त में रासलीला के उपरान्त राधाकृष्ण विवाह में सफल होता है। संयोग का पूर्ण

सुख राश रति क्रीड़ा में कलाओं से जगमगा उठता है।

शृंगार रस की भावना का उदय वात्सल्य के सहारे कराके उसकी रति की भूमि को अनोखा रंग इस कवि ने प्रयास कर दिया है। वयःसन्धि की जो झिलमिलाहट नायक अथवा नायिका में धूपछांह की भांति दिखायी पड़ती है वही वात्सल्य और शृंगार तथा लरिकाई और तरुणाई की झिलमिलाहट सूर ने अपने शृंगार रस के आरम्भ में प्रविष्ट कर दी है। सकुचना झिझकना अर्द्ध स्फुट आवृत अनावृत कृष्ण गोपी और राधा का यह रतिभाव उग्र हो जाता है और लोकलाज कुल कानि तथा मर्यादा के बन्धनों को तोड़कर प्रवाहित हो उठता है। संयोग शृंगार के इस परिपाक में आदि वात्सल्य से करके अन्त रास की अनन्त गम्भीर राशि में होता है। यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस अमर्यादित गोपी प्रेम की पृष्ठभूमि में उदित राधा कृष्ण का यह अनन्य स्वकीया प्रेम जहां संयोग शृंगार का सन्देश है वहां संयोग के उपरान्त होने वाले विरह का सूक्ष्म वर्णन अपनी वर्णना के साथ रस का आनन्द प्रदान करता हुआ सगुण और निर्गुण के द्वन्द्व को उपस्थित कर सगुण की विजय घोषित करता है। वास्तविक बात यह है कि बिना विरह के शृंगार रसान्तर्गत संयोग का न तो पूर्ण आस्वाद ही मिलता है न उसका मूल्य ही आंका जा सकता है। रति की आध्यात्मिक परिणति वियोग विरह के द्वारा ही होती है। राधा और गोपी का विरह अनन्य होना चाहिये और अनन्त ही है पर सूर ने शृंगार रस की भारतीय उपलब्धि के मार्ग को उच्छिन्न नहीं होने दिया। परकीया की भूमि पर स्वकीया की मधुर भव्य मूर्ति की स्थापना करके शृंगार रस की अमर्यादा दूर की। आन्तरिक मर्यादा पर जहां उन्होंने अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं वहीं अनन्त विरह की आन्तरिक भाव भूमि की स्थिरता दिखाते हुए प्रतीक वत् अन्तिम राधा कृष्ण मिलन का दृश्य अंकित करके अपनी काव्य-प्रभा के भाव सौन्दर्य को स्वर्ण मुकुट से अभिषिक्त कर दिया है।

इस प्रकार शृंगार रति की इस प्रेममयी अवतारणा का कवि ने यवनिका पात कराया। पाठक ने कृष्ण गोपी और राधा कृष्ण की रति के भाव पर परिपक्व इस शृंगार रस का आस्वाद भली भांति किया। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों से सबन्ध

रसमें वाली समस्त दशाओं अवस्थाओं स्थितियों में होकर उसका मन गया। कृष्ण और गोपी तथा राधा कृष्ण के अन्तरमन के समस्त उद्वस्नों को उसने देखा उनकी बाह्य अभिव्यंजनाओं में होकर भी उसने मार्ग निकाला और अन्त में शृंगार रस की अनन्त शक्ति से उसका मन तप कर कंचन की भांति जगमगाता हुआ भक्ति भाव की पवित्रता से अभिमण्डित हो गया।

— १६ —

सूरदास का विरह-वर्णन

सूरदास हिन्दी गगन-मण्डल के सूर्य हैं। यही वह महाकवि है जिसने काव्य को हिन्दी में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया जिसने हिन्दी में उस स्वर्ण-युग की अवतारणा की। इस कवि ने अपनी प्रतिभा से अध्यात्म दर्शन भक्ति और सगुण ब्रह्म को कला का चेरा अथवा माध्यम बना दिया। इससे काव्य का धरातल ऊँचा उठा। पर वे विषय भी धन्य हो उठे।

इस महाकवि ने यों तो प्रसंगवश सभी रसों का यथास्थान समावेश किया है—वीर करुण हास्य अद्भुत रौद्र भयानक शान्त के छींटे जहाँ-तहाँ हमें इनके महाकाव्य सूरसागर में मिल जाते हैं। किन्तु वात्सल्य और शृंगार ही इस कवि के प्रधान विषय रहे हैं। वात्सल्य तो इनका अद्वितीय है ही शृंगार में भी सूर की समानता कोई नहीं कर सकता। शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष दोनों में ही उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। उनके कृष्ण चरित्र के निरूपण में वात्सल्य और संयोग शृंगार वियोग की भूमिका मात्र हैं। कवि ने वात्सल्य और संयोग रति के द्वारा कृष्ण को गोपियों के तन-मन में रमा दिया है उनसे अभिन्न कर दिया है। गोपियों से ही नहीं ब्रज के पशु-पक्षियों से भी ब्रज के लता-पतायों से भी। जैसे ही संयोग भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वियोग आ उपस्थित होता है।

सूर के विरह-काव्य का आधार बहुत सूक्ष्म और साधारण है। कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए। मथुरा उनका मन भाये उसी समय से ब्रज में तब हलचल मच गयी। विरह का आभास प्रस्तुत हो गया। गोपियाँ छिन्नभिन्न लगीं। बरोन्ह बार-बार पूछती है—'यशोदा बार बार यों भाखै

है काउ ब्रज में हितू हमारो चलत गुपालहि राखै—

किन्तु विकलता और दौड़ भाग का कोई भी परिणाम नहीं निकला। कृष्ण मथुरा चले ही गये और गोपियों को अत्यन्त विरह दे गये। ब्रज को सूना ही नहीं कर गये उजाड़ गये। आलोचकों का कहना है कि गोपियो और ब्रजवासियों का यह दीर्घ विरह-उत्ताप अस्वाभाविक है। कृष्ण गोकुल नहीं आये तो गोपियाँ मथुरा जा सकती थी। कितनी उपहासास्पद युक्ति है समस्त गोकुल मथुरा पर आक्रमण कर दे। वहाँ क्या कृष्ण को वे उसी रूप में पा सकते थे जिसमें उन्होंने गोकुल में पाया था— नहीं नहीं प्रेम कितना ही अन्धा अथवा पागल क्यों न हो वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता। मान प्रेम का सबसे दृढ़ आधार है वही प्रेम को पुष्कल होने से बचाता है। गोपियाँ मथुरा नहीं जा सकती थीं यही कारण है कि गोपियों के विरह की गोप्रता और उग्रता को समझते हुए भी कृष्ण ने कभी यह सन्देश गोपियों के पास नहीं भिजवाया कि वे मथुरा आ जायें।

प्रेम से अधिक सम्वेदनशील कोई दूसरा भाव होता ही नहीं। वह प्रेमी की पीठ फिरना भी सहन नहीं कर सकता स्थानान्तर तो बहुत भारी बात है।

तो सूर के विरह-वर्णन में हमें तीन प्रकार के पात्र मिलते हैं। एक हैं मात पिता दूसरे हैं गोपियाँ तीसरे हैं राधा। माता पिता का विरह वात्सल्य विरह है।

अक्रूर जिस समय से कृष्ण का मथुरा ले जाने की बात कहते हैं उसी समय से यशोदा की विकलता अत्यन्त तीव्र है—वह पहले तो अक्रूरजी को ही समझाती है —

"यसुदा कह सुनहु अफ स्कसुत
मैं पयपान जतन करि पारे।
ए कहा जानहिं सभा राज की
ए गुरुजन विप्रौ न जुहारे ॥

न तो शिष्टाचार जानते हैं, और न मथुरा की बातों से ही परिचित है —

'सूरदास स्वामी ए लरिका,
इन कब देखे मल्ल अखारे'

ये यहाँ आने के योग्य नहीं। किन्तु अक्रूरजी तो क्रूर हो गये। वे यशोदा की बात नहीं सुनते।

यशोदा के 'छगन-मगन' को कंस ने बुला भेजा है। अक्रूर-सुफलकसुत ही काल रूप होकर यशोदा के प्राणों का घात करने के लिए आये हैं। यशोदा क्या करे, कैसे कृष्ण को रोके? वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति त्याग देने को तय्यार है। कंस उसका सर्वस्व छीन ले उसे बन्दी बना ले पर केवल कृष्ण को उसकी आँखों के आगे ही खेलने दे।

बरु ए गोधन हरौ कंस सब
मोहि बंदि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन
मेरी अँखियन आगे खेलौ।

अँधेरा घिरता आ रहा है, यशोदा की बेबसी बढ़ती जा रही है। कौन सुनता है उसकी पुकार! कृष्ण जाने को तत्पर हो गये। यशोदा कह उठती है—

मोहन—

मोह यशोदा के मुख से कितना सार्थक शब्द निकल पड़ा है, जो दूसरे को सम्मोहित कर ले, पर जिसमें स्वयं मोहन हो, तो यशोदा कहती है रिरियाती हुई—

मोहन नैंक बदन तन हेरो।
राखो मोहि मात जननी को
मदन गुपाल लाल मुख हेरौ।
पाछे चढ़ो बिमान मनोहर,
बहुरो, यदुपति, होत अँधेरो।
बिछुरत भेंट देहु ठाढ़े ह्वै
निरखौं घोष जनम को लेरो।

माता के व्यस्त हृदय की पीड़ा इन व्यावहारिक शब्दों के पीछे झाँक रही है। यशोदा जिसे मातृत्व गर्व में फूली नहीं समाती थी उसी मातृत्व गर्व को समाप्ति स्वयं यशोदा ही बन गयी। यह दैवदुर्विपाक नहीं तो और क्या है—क्या यह स्वर उसी यशोदा का है जो कभी कहती थी?

"सूरदास मो गोधन की सौं हौं मांता तू पूत"

हा ! उस भोली यशोदा को क्या पता था कि किसी दिन भग्न हृदय से उसे यह सन्देशा भी भिजवाना पड़ेगा—

संदेसौ देवकी सौं कहियौ ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की
मया करत ही रहियौ ।'

किन्तु गोपियों के प्रेम की अवस्था कुछ और है । उनके प्रेम में कृष्ण का समस्त रूप सामने उभरा हुआ है । उनके भावों की कोई सीमा नहीं । गोपियों के इस विरह की सूर में हमें दो अवस्थाएँ विशेष रूप मिलती है एक प्रतीक्षा की दूसरी निराशा की । उद्धव के ब्रज आगमन से पूर्व तक की अवस्था प्रतीक्षा के विरह की अवस्था है । उसके बाद की निराश-विरह की ।

कृष्ण के जाने से ब्रज की क्या अवस्था होगयी थी, उसका परिचय उद्धव ने लौट कर कृष्ण को दिया था—

कहँ लौं कहिए ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन
लोगन जैसे दिवस बिहात
गोपी, ग्वाल, गाय, गोसुत
सब मलिन बदन, कृसगात
परम दीन जनु सिसिर-हेम-हत
अंबुज गन बिनु पात
जो कोहू आवत देखत हैं
सब मिलि बूझत कुसलात
चलन न देत प्रेम-आतुर उर,
फिरि चरनन लपटात
पिक, चातक बन बसन न
पावहिं, बायस बलिहि न खात
सूरदास सन्देसन के डर
पथिक न वा मग जात ।

ब्रज के लता-बेलियाँ तक विरह से उत्तप्त हैं और गायों का तो दुःख अनिर्वचनीय है—उनकी दशा गोपियों ने उद्धव को बताई है 'जल-समूह बरसति दोउ आँखिनि हूँकरति लीने नाँव" कोई कृष्ण का नाम भी लेता है तो कोई हूँक उठती है। यही नहीं कृष्ण ने जहाँ-जहाँ उनका दूध दुहा है वहाँ जाकर—

परति पछारि खाइ तेहि-तेहि
मिल अति आतुर ह्वै दीन
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं
बारि मध्य तैं मीन"

जब पशु-पक्षियों की यह दशा है तो गोपी-ग्वालों की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

गोपियाँ जिधर दृष्टि डालती है उधर ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे विश्वास नहीं कर सकती कि उनके वियोग में किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है तभी वे मधुबन को हरा-भरा देख कर पूछती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

और वे स्मरण करती हैं—

मोहन बेनु बजावत द्रुम-तर शाखा टेकि खरे
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनि मन ध्यान टरे
वह चितवनि तू मन न धरत है फिर फिर पुहुप धरे

गोपियों के शरीर में तो यह देख कर नख से शिख तक आग लग जाती है। एक ओर विरह में शरीर का उत्ताप है, दूसरी ओर नेत्रों से आँसुओं का झर—तभी तो कहती हैं—

ब्रज तैं द्वै रितु पै न गई
पावस अरु ग्रीषम प्रचण्ड सखि ! हरि बिनु अधिक भई।
ऊरध स्वाँस समीर, नयन घन, सब जल जोग जुरे
बरसि जो प्रगट किए दुखदादुर हुते जे दूरि हरे

विषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे
हरि विधु विमुख भये कहि सूरज को तन ताप हरे।

इन वजमारे नत्रों से बादल भी परास्त हो उठते हैं। बादल तो समय पर बरसते हैं पर कृष्ण वियोग में—

बिनु ही रितु बरसत
निसि वासर सदा सजल दोउ तारे
सुमिरि सुमिरि गरजत मरु
छांडत मसु सलिल बहु भारे

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडंबना पूर्ण उस समय हो जाती है जब कृष्ण को 'पाती आती है। वे अपने प्यारे के पत्र को पढ़ने के लिए व्यग्र हो उठती हैं। पर हायरे ' यह पाती भी विरह की काँती बन जाती है छुरी बन जाती है। दुःख का उद्वेग और बढ़ जाता है—अवस्था यह होती है कि—

"नन सजल कागद अति
कोमल कर अँगुरी अति ताती
परस बरें विलोकैं भीजें
दुहू भाँति दुख छाती

यशोदा माता का विरह भी अकथनीय है। न वे पत्र पढ़ ही पाती हैं न लिख ही पाती हैं। वियोग कुछ करने ही नहीं देता। वे संदेश पर संदेश भजती हैं

'संदेसनि मधुवन कूप भरे

किन्तु लौटकर संदेश का उत्तर नहीं आता। विवश गोपिकाएँ इसी प्रकार कृष्ण की बाट जोहती हैं। इस प्रतीक्षा में वे तड़प रही है। जितने भी कृष्ण के सयागी थे वे उनके वियोग में आज शत्रु हो गये हैं। ये मोर भी तो आज न आने कब की शत्रुता निकाल रहे हैं। रोकने पर भी चुप नहीं होते। अरे! बादलों को गरज ही हृदय को कुचलने के लिए क्या कम है 'पर ये मोर जितना रोको उतना ही कुहकते हैं। विरह व्यथित गोपिकाओं के मानो हृदय पर मोर की कुहक के आघात से जो असहनीय पीड़ा होती होगी उसका क्या अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु इन पर वश नहीं है।

ब्रज के सखा-सहेलियाँ तक विरह से उत्तप्त हैं और गायों का तो दुःख अनिर्वचनीय है—उनकी दशा गोपियाँ ने उद्धव को बताई है 'वत्स-समूह बरसति दोउ आँखिनि हुँकरति सीने नाँव' कोई कृष्ण का नाम भी लता है तो कोई हूँक उठती है। यही नहीं कृष्ण ने जहाँ-जहाँ उनका दूध दुहा है वहाँ आकर—

"परति पछारि खाइ तेहि-तेहि
मिल अति आतुर ह्वै दीन
मानहु सूर काढ़ि डारी है
बारि मध्य तें मीन'

जब पशु-पक्षियों की यह दशा है तो गोपी-ग्वालों की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

गोपियाँ जिधर दृष्टि डालती हैं उधर ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे विश्वास नहीं कर सकतीं कि उनके वियोग में किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है तभी वे मधुबन को हरा भरा देख कर पूछती है—

मधुबन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
और वे स्मरण करती हैं—
मोहन बेनु बजावत द्रुम-तर साखा टेकि खरे
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनि मन ध्यान टरे
वह चितवनि तू मन न धरत है फिर फिर पुहुप धरे

गोपियों के शरीर में तो यह देख कर नख से शिख तक आग लग जाती है। एक ओर विरह में शरीर का उत्ताप है, दूसरी ओर नेत्रों से आँसुओं का झर—तभी तो कहती हैं—

ब्रज तें द्वै रितु पै न गईं
पावस अरु ग्रीषम प्रचण्ड सखि! हरि बिनु अधिक भईं।
ऊरध स्वाँस समीर नयन घन, सब जल जोग जुरे
बरसि जो प्रगट किए दुखदादुर हुते जे दूरि दुरे

बिषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे
हरि विधु विमुख भये कहि सूरज को तन ताप हरे।

इन मजमारे मर्मो से बादल भी परास्त हो उठते हैं। बादल तो समय पर बरसते हैं पर कृष्ण वियोग में—

बिनु ही रितु बरसत
निसि बासर सदा सजल दोउ तारे
सुमिरि सुमिरि गरजत अब
स्वांस बमू सलिल बहु बारे

वियोग में उनकी बिषम स्थिति और भी विडम्बना पूर्ण उस समय हो जाती है जब कृष्ण की पाती आती है। वे अपने प्यारे के पत्र को पढ़ने के लिए व्यग्र हो उठती हैं। पर हायरे! यह पाती भी बिरह की फाँसी बन जाती है छुरी बन जाती है। दुःख का उद्वेग और बढ़ जाता है—अवस्था यह होती है कि—

'नैन सजल कागद अति
कोमल कर अँगुरी अति तातो
परस जरें बिलोकै भीजे
दुहू भाँति दुख छाती

यशोदा माता का विरह भी अकथनीय है। न वे पत्र पढ़ ही पाती हैं न लिख ही पाती हैं। वियोग कुछ करने ही नहीं देता। वे संदेश पर संदेश भेजती हैं

'संदेसनि मधुबन कूप भरे

किन्तु लौटकर संदेश का उत्तर नहीं आता। विवश गोपिकाएँ इसी प्रकार कृष्ण की बाट जोहती हैं। इस प्रतीक्षा में वे तड़प रही हैं। जितने भी कृष्ण के सयोगी थे वे उनके वियोग में आज दाबु हो गये हैं। ये मोर भी तो आज न जाने कब की शत्रुता निकाल रहे हैं। रोकने पर भी चुप नहीं होते। अरे! बादलों की गरज ही हृदय को कुचलने के लिए क्या कम है! पर ये मोर जितना रोको उतना ही कुहकते हैं। विरह व्यथित गोपिकाओं के मानी हृदय पर मोर की कुहक के आघात से जो असहनीय पीड़ा होती होगी उसका क्या अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु दम पर वश नहीं है।

'घन गरजैं बरसैं नहि मानत त्यौं-त्यौं रटत खरे'

ये तो कृष्ण ने ही उद्दंड कर दिये हैं 'कर इक ठौर चौनि इनके पंख मोहन सीस धरे।" कृष्ण ने ही इन्हें सिर चढ़ा रखा था— 'याही तें विरहीन को मारत हरि ही ढीट करे' —पर ये मधुप हैं टस क्यों नहीं आते, "सूरदास परदेस बसे हरि ये बन तें न टरे' गोपियों की विषाद में यह खीज हो उठती है

इस प्रकार प्रतीक्षा में दिन बीत रहे थे, प्रति दिन प्रतीक्षा थी कि कृष्ण आयेंगे—किन्तु वर्षा ऋतु आगयी। वर्षा में सभी के पति लौटते हैं, उनके प्रिय कृष्ण भी लौटेंगे, पर नहीं आये—बादलों को चमकता देखकर गोपियों के हृदय में एक हूक उठी, उन्होंने कहा—

बरु ये बदराऊ बरसन आये।

अपनी अवधि जानि नँद नन्दन गरजि गगन घन छाये।।

अरे ये तो अपने समय पर आये हैं और गरजते हुए डंके की चोट आये हैं। इन्होंने अपने सभी प्रियजनों को प्रसन्न कर दिया है

'द्रुम किए हरित हरषि बेली

मिलि चातक मृतक जिवाये—

ये बादल अपने प्रियजनों को सुख देने के लिए बड़ी दूर-दूर लोक से आये हैं—दूसरे के चाकर होते हुए भी समय पर आ गये—पर

'सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि मधुबन बसि बिसराये"

गोपियों के हृदय टूट रहे हैं। विरह-विषाद की ज्वाला से ब्रज जल रहा है। पथिकों ने वह मार्ग छोड़ दिया है। पशु-पक्षी भी पलायन कर गये हैं। गोपियां हैं और उनका ब्रज है—उजाड़, सुनसान भयावह। तभी उद्धव 'कृष्ण की जैसी भूषा में गोपियों को समझाने आते हैं। निर्गुण और योग का सन्देश सुनाने। इसी से तो गोपियों को सान्त्वना हो सकती है। पर उद्धव का सन्देश गोपियों के जले पर नमक छिड़क देता है। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकतीं कि कोई इस विरह में इस प्रकार के सन्देश देने की धृष्टता भी कर सकता है। उनके हृदय की तिलमिलाहट की अनुभूति कैसे हो सकती है। वे उद्धव से अत्यन्त मुखर हो उठीं

हैं। उनकी पीड़ा कटाक्ष-व्यंग-उपहास में परिणित हो उठती है। वे उद्धव को कृष्ण-सखा समझकर उनका बड़ा आदर करती हैं बड़े संयम से बात करने की चेष्टा करती हैं पर क्या करें विवश होकर कुछ प्रेमोन्माद ग्रस्त कहनी अनकहनी भी कह जाती हैं। किन्तु उनकी समस्त बातों का सार यह है कि—

ऊधौ मन न भये दस बीस

एक हुवो सो गयो स्याम संग को अवराधै ईस।

तुम हमें हमारा मन ला दो हम निर्गुण की उपासना करने लग जायेंगी। पर लावो तो तुम हमारे मन को। वह मन तो श्याम के आने पर ही आयेगा।

यह भ्रमरगीत विविध विषय भावों व उद्वेगों से परिपूर्ण है—गोपियों का हृदय विरह से जल रहा है। पर उन्हें उद्धव की बातों का उत्तर भी देना पड़ रहा है। उद्धव के उपदेशों से सन्तोष कहाँ होता है—वह तो और बढ़ता है

अँखियाँ हरि दर्शन की भूखी।

कैसे रहें रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।

अवधि गनत इकटक मग जोवत तब इतनी नहिं झूखी।

अब इन जोग संदेसनि ऊधो अति अकुलानी दूखी।।

इन गोपियों को ब्रज के कुंज अग्निपुंज हो गये हैं। उनकी शीतलता दाहक हो गयी है। उन गोपियों को लगता है।

बृथा बहति जमुना खग बोलत

बृथा कमल फूलें अलि गुंजें।

पवन पानि घनिसार संजीवन

दधि-सुत किरन भानु भइ भुंजें।

ये सब भूंजे डालती है। यहाँ इन्हीं गोपियों में स्थित राधा की अवस्था भी तो देखिये—

अति मलीन वृषभानु कुमारी—

हरि स्रमजल अंतरतनु भीजे

ता लालच न धुआवति सारी।

अध मुख रहति, उरम नहिं चितवति
ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हलाने
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई,
इक विरहिन दूजे अलि जारी ।
'सूर' स्याम बिनु या बीवति हैं,
ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी ।

गोपियों से सम्मानित और निरादृत होकर उनके प्रेम की गहराई की वियोगानुभूति से प्रभावित होकर उद्धव अपनी ज्ञान गरिमा को बैठे । उद्धव ने कृष्ण को ब्रज लौटने की बात कही पर ब्रज लौटना कहाँ ? वे तो मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गये । जो निराश विरह उद्धव के आगमन से आरम्भ हुआ था उसकी पराकाष्ठा इस सम्वाद से हुई कि कृष्ण द्वारिका चले गये, और भी दूर चले गये तब गोपियों न एक दीर्घ निराश-निश्वास छोड़ कर कहा—

नैना भये अनाथ हमारे ।
मदन गुपाल उहाँ तें सजनी ।
सुनियत दूरि सिधारे ।
वे जलहर हम मीन बापुरी
कैसे जिवहिं निनारे ।
हम चातक चकोर स्याम घन
वदन सुधानिधि प्यारे ।
मधुबन बसत आस दरसन की
जाइ जोइ मग हारे ।
'सूर स्याम प्रभु करी प्रिय ऐसी
मृतक हुते पुनि मारे ।

मृतकों को मार कर कृष्ण दूर चले गये । गोपियों का
निराश विरह की बाती मौंग गये । सूर जैसे महाकवि ने अपनी

शक्ति से इस वियोग की प्रत्येक दशा के साथ हृदय की पीड़ा का चित्र देखा चाहा है। यह चित्र अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि व्यथा घनीभूत होते-होते एक स्तर पर पहुँची है, उससे भी ऊपर उठी है और कवि के शब्द उसके प्रकट करने के लिए स्फुट संकेत जैसे रह गए हैं। जब सूर की यह दशा है तो और कौन कवि विरह को यथार्थ आँक सकता है।

— २० —

सूरदास के कृष्ण

सूरदास वल्लभ-सम्प्रदाय के कवि हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीवल्लभ और श्री विट्ठल ने जो अष्टछाप बनाया, सूरदासजी उसमें प्रधान हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण भक्ति का प्रचार करने में कितनी सहायता पहुँचायी इसके कहने अथवा प्रमाणित करने की आज आवश्यकता नहीं। निश्चय ही सूरदासजी के 'कृष्ण' केवल राधा अथवा गोपी मात्र के प्रिय तम उनके शृङ्गारी-ढाँचे की आत्मा नहीं न रीति-कालीन कवियों के कृष्ण की तरह किसी नायिका के प्रियतम ही हैं। वे एक विशेष विश्वास और सम्प्रदाय की वस्तु हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय की दृष्टि में कृष्ण ब्रह्म हैं। वह विष्णु, ब्रह्मा और शिव सब से परे हैं। फर्कुहर साहब ने अपने ग्रन्थ An Outline of the Religious Literature of Hindus में लिखा है— 'सत्-चित आनन्द जो ब्रह्म है, कृष्ण उसी की एकमात्र सत्ता है। अग्नि से चिनगारियों की तरह कृष्ण से यह पदार्थ-संसार, आत्माएँ और अन्तरयामिन् अथवा अन्तः निवसित देव प्रोद्भासित हैं। आत्माओं में जो परिमाणु रूप और ब्रह्म के तुल्य हैं तीनों गुणों की सम-अवस्था में विकार हो जाने के कारण आनन्द-गुण विलुप्त हो जाता है। अतः उनमें केवल सत-चित गुण ही मिलते हैं। मुक्तआत्माएँ कृष्ण के स्वर्ग को जाती हैं—जो कि विष्णु, शिव और ब्रह्मा के स्वर्ग से कहीं ऊपर है और वहाँ कृष्ण के प्रसाद से वे दिव्य विभूतिमय शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।"

इसकी पुष्टि आर० जी० भाण्डारकर के लेख से भी होती है। वेस कहते हैं— श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं उसका शरीर सत्-चित्-आनन्दमय है। वह पुरुषोत्तम कहलाता है, अतः कृष्ण परमानन्द हैं। उसकी इच्छा से उसका सत्व अंश आनन्द अंश को दबा देता है और अक्षर अथवा अपरिवर्तनशील होकर

यह सब कारणों का कारण होता है और जगत् की सृष्टि करता है। यह अक्षर ब्रह्म दो प्रकार का है—(१) वह जिसे भक्त पुरुषोत्तम का स्थान मानते हैं जिसमें व्यापी वैकुण्ठ आदि के लक्षण होते हैं। (२) ज्ञानियों को यह सत चित और आनन्द काल और देश में असीम स्वोदभूत और सब गुणों से शून्य दिखलायी देता है। अत जिस रूप में वह ज्ञानियों को दिखलायी देता है, उसमें अस्तित्व-गुण छिप जाते हैं अथवा उक्त अलक्षित शक्ति के द्वारा व अदृष्टिशील कर दिये जाते हैं। अत उनका अभाव नहीं माना जा सकता। जब ब्रह्म का सब गुणों से रहित बतलाया जाता है तब उसका ठीक यही तात्पर्य होता है। अत परमात्मा के तीन रूप हैं अक्षर ब्रह्म के दो।

पुरुषोत्तम परमात्मा का रूप है। वही सबका शासनकर्ता है, इसके लिए उसका वह रूप जो सूर्य देवो पृथ्वी आदि में रहता है अन्तर्यामी कहलाता है। यह अन्तर्यामी ही प्रसिद्ध रूप से अवतरित होता है। कृष्ण का विष्ण सत्व गुण विष्णु हो जाता है। इस रूप में वह सब का पालक है। इस प्रकार राजस् और तमस् गुण ब्रह्म तथा शिव होकर सृष्टि और संहार का कार्य करते हैं।

इन अवस्थाओं को देखने से इसमें किंचित भी सन्देह नहीं रहता कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण को विष्णु से—त्रिदेवों से ऊपर माना गया है। अब देखना यह है कि सूरदासजी ने वल्लभ-सम्प्रदाय की अवधानता में काव्य रचना करते हुए कृष्ण को किस रूप में स्वीकार किया है।

सूरसागर में स्थान-स्थान पर कृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कमला नायक, माधव मुरारि, केशव राजिवनन, गोविन्द त्रिभुवनपति आदि शब्दों का प्रयोग भी है। ये सभी शब्द विष्णु के लिए प्रयोग में आते हैं। दीनानाथ करुणानिधि आदि साधारण विशेषता-द्योतक शब्दो का भी प्रयोग है।

विनय का यह पद 'हरि' नाम से ही प्रारम्भ हुआ है—

'चरण कमल वन्दों हरि राई'

'माधव' का प्रयोग निम्नलिखित प्रसङ्ग में हुआ है—

'माधव जू नेक हटको गाइ'—वाणी की वाचालता के सम्बन्ध में माधव से प्रार्थना की गयी है।

'माधव जू जो जन ते बिगरै

× × ×

'कै हमहीं कै तुमही माधव अपनु भरोसे लरिहौं,

– – +

'मनारे माधव सों करि प्रीति' आदि—

'मुरारी' का प्रयोग देखिए—

'भव के भाव मोहि उबारि

मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपा सिन्धु मुरारि।

× × ×

'तुम सर्वज्ञ सबै बिधि समरथ असरन सरन मुरारी ।।"

× × ×

'रे रे अध बोसहु कौवन पर तिय हरन बिकारी।

सूने भवन गवन तै कीन्हौं, सेस रेख नहिं टारी ।।

अजहूं कह्यौ सुनै जो मेरौ आयै निकट मुरारी ।।

अन्तिम उद्धरण में 'मुरारी' श्रीरामचन्द्रजी के लिए आया है। 'राम-युद्ध' का वर्णन करते हुए सूरदास जी लिखते हैं—

सुरपुर ते आयो रथ सजि कै रघुपति भये सवार।

काँपी भूमि कहा अब ह्वै है सुमिरत नाम मुरारि ।।

वामन-अवतार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

ए ठी बिप्र न होवे राजा, आये छलन मुरारी।

कहि धौं शुक्र कहा धौं कीजै, आपुन भये भिखारी ।।

यहाँ वही 'मुरारी' शब्द 'वामनावतार' के लिए लाया गया है।

अब 'गोविन्द' शब्द को लीजिये—

गोविन्द कोपि चक्र कर लीन्हों।

भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए जिस समय श्रीकृष्णजी ने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ दिया उस स्थल का वर्णन करते हुए श्रीकृष्णजी के लिये 'गोविन्द' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'गोविन्द सौ पति पाय, कहाँ मन अनत लगावै।'

यहाँ विनय में इष्टदेव को 'गोविन्द' नाम से पुकारा गया है।

'खेलत चलिय बाल-गोविन्द

बाल लीला के वर्णन में 'बाल-गोविन्द' श्रीकृष्ण के लिए है। पुन 'गोवरधन धारण' में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा गया है—

'जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि'

श्रीकृष्ण को राजिव नैन' कमल नयन' आदि नामों से भी सूरदासजी ने स्मरण किया है। यह सभी नाम विष्णु के पर्यायवाची हैं। इन नामों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास के लिए श्रीकृष्ण विष्णु भगवान के अवतार थे।

फर्कुहर के कथन से विदित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कृष्ण को ब्रह्म, सत्-चित-आनन्द-स्वरूप मानते है और उसे विष्णु ब्रह्मा और महेश से परे समझते है।

ब्रह्मा विष्णु और महेश—यह त्रिमूर्ति पुराणो द्वारा विकसित धर्म का मूल है। अठारह पुराणों में से प्राय सभी पुराणो में इन्ही त्रिदेवों में से किसी एक का प्रधानता देकर उसी सम्बन्ध में कुछ विभिन्न चरित्रों का गान किया है। सभी पुराण इन देवों में से किसी न किसी के महत्व और गौरव का प्रतिपादन करने के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं। इन पुराणो ने प्रत्यक देव का एक विशेष रूप खड़ा कर दिया है। उसका चरित्र और उसके कार्य एक विशेषता लिय हुए है जिसमें तीनो देव बिना हिचकिचाहट के स्पष्ट पृथक पाने जा सकते हैं।

सूरदासजी मे हमें विष्णु के दर्शन मिलते ह। सभी वैष्णवों की तरह यहा श्रीकृष्ण को अवतार तो माना हो गया है अनक स्थलों से यह भी स्पष्ट सूचित होता ह कि श्रीकृष्ण अवतार तो हैं ही परन्तु विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण का वर्णन करते समय जहाँ उन्हे त्रिमूर्ति के अन्य देवों के वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ह वहां उन्होंने ब्रह्मा और शिव—इन दो देवों का ही वर्णन किया है विष्णु का नहीं। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि वे कृष्ण को विष्णु समझते हैं अन्यथा व विष्णु का भी वर्णन साथ ही करते जैसे तुलसीदास जी ने अनक स्थलों पर किया ह।

ऐसी दशा में हम नहीं मान सकते कि सूरदास कृष्ण को ब्रह्म

समझते हैं और उन्हें विष्णु ब्रह्मा और महेश, इन तीनों से ऊपर कोई शक्ति मानते हैं ।

ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ कृष्ण को अवतार बताया गया है। अपनी स्वाभाविक सुन्दर शैली में सूरदास ने बड़े ही रमणीय ढंग से श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया है। वही विष्णु जिनकी नाभि के कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, वही विष्णु जिसने दश अवतार ग्रहण किये, राम बनकर सीता खोजी, रावण का संहार किया तथा वामन बनकर बलि को और तीन डगों में सारे लोकों को नाप लिया, वही विष्णु जिन्होंने परशुराम बनकर पृथ्वी को क्षत्रिय रहित करने की प्रतिज्ञा की वही विष्णु जो शेषशायी और क्षीर-सागर-निवासी हैं वही भागवत् के विष्णु हैं। वामन-अवतार का वर्णन करते हुए सूरदासजी लिखते हैं —

ए ती विप्र न होवे राजा आये छलन मुरारी
कहियौं सुक्र कहाँयौं कीजै आपुन भए भिखारी
जब ही उदक दियो बलि राजा वामन देह पसारी,
जय जयकार भयो भुवि नापत तीन पग भई सारी,
आध पैड दे बसुधा राजा, नातर चल सत हारी,
अब सत कयो हारो जगस्वामी नातौ देह हमारी,
सूरदास बलि सबस दीनौं पायो राज पतारी

जानकी के वियोग में रामचन्द्रजी की विह्वल दशा का वर्णन करते-करते कवि अपनी टिप्पणी देता है —'सूरदास प्रभु प्रिया प्रेम-बस, निज महिमाहु बिसारी'—'निज महिमा' से सूरदास (प्रभु की ओर) उनके विष्णुत्व की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं।

श्रीकृष्ण जन्म के समय विष्णु के दर्शन का वर्णन है —

'हरि मुख देखिये वसुदेव
कोटि काम सरूप सुन्दर कोऊ न जानत भेव ।
चारि भुज जाके चारि आयुध निरख कै कर सेउ ।।

यहाँ 'कोऊ न जानत भेव' और 'चारि भुज जाके चारि आयुध' से वायम कृष्ण के विष्णु अवतार की ओर संकेत कर रहे हैं।

अब श्रीकृष्ण के स्वप्न का वर्णन देखिये। सूरदास कृष्ण में जिस शक्ति का अनुमान करते हैं, उस शक्ति का स्वप्न भी किसी वास्तविकता से शून्य नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य चाहे न समझ सके, परन्तु दिव्य-दृष्टि के लिए—देवताओं के लिए यह रहस्य इतना गुप्त नहीं रहता। उसे देख कर ब्रह्मा तथा शिवजी भ्रम में पड़ जाते हैं —

'देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कम्पो, ईस बिरंचि भ्रमावे'—

ब्रह्मा और शिव को भ्रम में डालने वाली बात यह है —

स्वास उदर उरसति यौं मानों, दुग्ध सिंधु छवि पावे।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावे॥

कर सिरतर करि स्याम मनोहर अलक अधिक सौं भावे।
सूरदास मानों पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावे॥

पालने का शयन यशोदा और गोकुल-वासियों की दृष्टि में है। परंतु देवताओं की दृष्टि में वही शेषशायी विष्णु का शयन है। यहां सूरदास ने लोकों की अर्थात् संसार की दृष्टि और देवों की दृष्टि अलङ्कार के सहारे बड़े ही कौशल से एक स्थान पर रखदी है। इसको जानकर फिर कोई सन्देह नहीं रहता कि श्रीकृष्ण की लौकिक क्रियायें अपनी दैवी क्रियाओं से पूर्ण तुल्यता रखती हैं। वे अलौकिक की प्रतिरूप हैं। श्रीकृष्ण—वह श्रीकृष्ण जो यशोदा के पालने में शयन कर रहे हैं शेषशायी विष्णु ही हैं।

फिर सूरदास कृष्ण को ही दसों अवतार लेने वाला बतलाकर हमारे विश्वास को और भी दृढ़ कर देते हैं। यहां कवि ने काव्य-कौशल से काम लेकर हमें यह दिखाया है कि भगवान् विष्णु ने सगुण बालरूप कैसे धारण कर लिया? माता के लिए वह किस रूप में प्रकट होते हैं? माता यशोदा कृष्ण से कहती हैं कि हे लाल! अजुस में हौआ आ गया है इसलिए दूर खेलने न जाना। बलराम को यशोदा के इस मातृ उचित आदेश पर हँसी आ जाती है। वे श्रीकृष्ण के विराट् अवतारशील रूपों का स्मरण करते हैं। साथ ही इस समय के अबोध बाल-जीवन के ऊपर विचार करते हैं —

अब डरपत सुनि-सुनि ए बातें कहत हँसत बलदाऊ।
सप्त रसातल शेषासन रहे, तब की सुरत भुलाऊ॥
चारि वेद लै गयौ संखासुर, जल में रहे लुकाऊ।
मीन रूप धरि कै जब मार्‌यो तबहि रहे कहाँ हाऊ॥
मथि समुद्र सुर असुरन के हित, मन्दर जलधि धँसाऊ।
कमठ रूप धरि धरनि पीठ पर, सुख पायो सहि राऊ॥
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाख्यौ, मनमें अति गरबाऊ।
धरि वाराह रूप रिपु मार्‌यौ, लै छिति दंत अगाऊ॥
विकट रूप अवतार धर्‌यौ, जब सो प्रहलादहि नाऊ।
धरि नृसिंह जब असुर विदार्‌यो, वहाँ न देख्यो हाऊ॥
वामन रूप धर्‌यो बलि छलिकैं, तीन पैंड बसुधाऊ।
श्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यो दरस चरण परसाऊ॥
मार्‌यो मुनि बिन ही अपराधहिं, कामधेनु लै आऊ।
इकइस बार निक्षत्र जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥
सूर्पनखा ताड़िका सँहारी खर दूसन त्रिसिराऊ।
सिंधु सेतु बाँध्यौ पषान सौं, तहाँ न देखे हाऊ॥
राम रूप रावन जब मार्‌यौ, दस सिर बीस भुजाऊ।
लङ्क जराय छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥
नृपति भीम सौं युद्ध परस्पर, सहँ यह भाव बताऊ।
तुरत चीर द्वै टूक कियो धरि ऐसे त्रिभुवन राऊ॥
यमुना के तट धेनु चरावत तहाँ सघन बन झाऊ।
पठि पताल ब्याल गहि नाथ्यौ तहाँ न देखे हाऊ॥
माटी के मिस बदन बिगार्‌यो, जब जननी डरपाऊ।
मुख भीतर त्रैलोक दिखायो, तबहु प्रतीत न आऊ॥
भक्त हेतु अवतार धरे सब

बलराम फिर श्रीकृष्ण की अलौकिकता की ओर संकेत करते हैं। श्रीकृष्ण बाँध दिये गये हैं। उस समय बलरामजी का कथन देखिये—

"निरखि स्याम हलधर मुसुकाने ।
को बांधे को छोरे इनको, यह महिमा एई पै जानें ।।
उत्पति प्रलय करत हैं एई, सेष सहस मुख सुजस बखानें ।

फिर लिखा है—

निगम स्वरूप देखि गोकुल हरि,
जाको दरस दूरि देवन को ।
सो बांध्यो यसुदा ऊखल धरि ।।
+ + +
क्षीर समुद्र सयन सयल जेहि ।
मांगत दूध पतोखी दे भरि ।।

भक्त के वश होने के कारण अनन्त के सान्त रूप हो जाने से जो विषमता दीख पड़ती है, उसे भक्त अपार अनुकम्पा समझ कर उसी पर अत्यन्त विमुग्ध और लट्टू हो जाता है। इसी भक्त की भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने इस 'विषमता' को कई स्थानों पर दिखाया है और उस पर मुग्ध हुए हैं। लौकिक रूप से तुलना करने के लिए अलौकिक रूप दिखलाना पड़ा है। यही विराट रूप शेषशायी विष्णु का स्वरूप है। इसी विषमता के लिए सूरदासजी लिखते हैं —

बदन बिरंचि विशेष सुकृत ब्रजवासिन के ।
श्री हरि जिनके भेष सुकृत ब्रजवासिन के ।।

ज्योति रूप जगनाथ जगत-गुरु, जगत पिता जगदीस ।
योग यज्ञ जप तप में दुर्लभ, वापन गोकुल ईस ।।

इक इक रोम विराज कोटि, तनु कोटि कोटि ब्रह्माण्ड ।
सो छीनों अकधरू यशोदा, अपने भरि भुजदण्ड ।।
जाके उदर लोक त्रय जल-थल, पंच तत्व चौखानि ।
सो बालक ह्वै झूलत पलना, यसुमत भवनहि आनि ।।
छिति मिति विपद करी करुनामय बलि छलि दियो पताार ।
देहरि उलंघि सकत नहिं सो अब, खेलत नंद दुआर ।।
अनुदिन सुरसर पंथ सुधारस चिंतामनि सुरं धेनु ।

सो प्रभि यसुमति को पय पीवत, भक्तन के सुख देनु ॥
रवि ससि कोटि कला अवलोकत, त्रिविध ताप छप जाइ।
सो अञ्जन करसै सुत कहि कपु, आँजत यशुमति माइ ॥

*　　　　*　　　　*

गोवर्धन धारण के समय श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रार्थना की गयी है —

'जय माधव गोविंद मुकुन्द हरि ।
कृपासिन्धु कल्यान कंस अरि ॥
प्रनतपाल केशव कमलापति ।
कृष्ण कमल लोचन अगतिन गति ॥
श्री रामचन्द्र राजीव नैन बर ।
सरन साधु श्रीपति सारँग धर ॥
बनमाली बिट्ठल बामन बल—

उपर्युक्त सभी नाम विष्णु के हैं। सूरदासजी ने फिर बलराम को हँसने का अवसर दिया। गोवर्धन उठा चुके हैं यशोदा पुत्र प्रेम वश श्रीकृष्ण की भुजाओं को दाब रही हैं। वह समझती हैं कि इतना विशाल पहाड़ उठाये रहने से बाँह में पीड़ा होती होगी, परन्तु बलराम हँसते हैं —

ठाढ़े देखि हँसत बलराम।
चौदह भुवन उदर में जाके,
गिरिवर धर्यो बहुत यह काम ॥ *

भला, यह कोई बात भी हो कि यशोदा घबड़ा रहीं हैं-अरे—
"कोटि ब्रह्माण्ड रोम रोमनि प्रति, जहाँ-तहाँ निसि बासर धाम ।"
फिर भी बड़ा आश्चर्य यह है कि—
जोइ आवत सोइ देखि चकृत हूँ, कहत करे हरि कैसे काम ॥
अरे ! ये अबोध क्या जानें-इन्हीं कृष्ण ने—
नाभि कमल ब्रह्मा प्रगटाये, देखि जलार्नव तज्यो बिश्राम ।
आवत जात बीच ही भटक्यो, दुखित भयो खोजत निज धाम ॥

घोर आश्चर्य है—

तिनसों कहत सकल व्रजवासी
कैसे कर राख्यो गिरि स्याम,

इन अवतरणों से यह निर्विवाद परिलक्षित है कि श्रीकृष्ण अवतार थे विष्णु के अवतार थे। हम देख ही चुके हैं कि श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यों का तथा उनकी अलौकिक दया का जहाँ भी वर्णन किया गया है उसमें विष्णु के गुणों का आरोप है—परन्तु कहीं भी श्रीकृष्ण को विष्णु नाम से नहीं पुकारा गया। जहाँ कृष्ण के नामों की गिनती की गयी है, वहाँ भी 'विष्णु' नाम नहीं आया गया। गोविंद मुकुन्द हरि वामन, रामचन्द्र, विठ्ठल, केशव, माधव ये नाम तो लिये गये हैं परन्तु विष्णु नाम नहीं लिया गया।

फिर क्या गोविंद मुकुन्द, हरि आदि से किसी और का तात्पर्य समझा जाय ? नहीं। इसका निर्णय भी हो जाता है। हमारे यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। यदि कहीं कृष्ण का वर्णन करते समय शिव और ब्रह्मा का ही उल्लेख किया जाय विष्णु का वर्णन न हो तो यह मान लेना चाहिये कि कवि श्रीकृष्ण को ही विष्णु समझता है। इसमें कोई दोष भी नहीं। इसीलिए कई स्थलों पर ब्रह्मा और शिव का वर्णन किया गया है, विष्णु का नहीं। राम के रण का वर्णन है—

आजु अति कोपे हैं रण राम।
ब्रह्मादिक आरूढ़ विमानन देखें सुर संग्राम ॥

× × ×

इन्द्र हँस्या हर हँस बिलखान्यो, जानि बचन सों भंग

यहाँ ब्रह्मा और शिव का उल्लेख है, इन्द्रदेव तक का वर्णन है, परन्तु विष्णु का नहीं।

'दिनकर किरन उदित ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाऊँ'।

यहाँ भी ब्रह्मा और रुद्र का उल्लेख है विष्णु का नहीं।

कर गहि पग अँगूठा मुख मेलत।

× × ×

शिव सोचत 'विधि' बुद्धि विचारत वट बाढ़यौ सागर जल झेलत।

यहाँ शिव और ब्रह्मा का उल्लेख है विष्णु का नहीं ॥

"देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो ईस विरंचि भ्रमावै" ।

यहाँ भी केवल ईस और विरंचि का ही वर्णन है ।

जगदीश भगवान श्रीकृष्ण के पदों का वर्णन करते हुए लिखा गया —

"चरन कमल बन्दौं जगदीश, जे गोधन के संग धाये" ।

× × × ×

जे पद कमल शम्भु चतुरानन

हृदय कमल अन्तर राखे ।

यहाँ भी केवल शम्भु और चतुरानन का ही उल्लेख है ।

जब ब्रह्मा का उल्लेख है शिव का उल्लेख है तो विष्णु कौन हैं ? क्या सूरदासजी नहीं जानते थे ? यह कभी सम्भव नहीं कि पुराण–गाथाओं में पारंगत सूरदासजी विष्णु से परिचित न हों । अतएव फिर उन्होंने विष्णु का उल्लेख क्यों नहीं किया ? फलत: इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वही अलौकिक कृष्ण विष्णु हैं । इसलिए त्रिमूर्ति में कृष्ण के समक्ष ब्रह्मा और शिव का ही नाम लिया गया है । अतः सूरदासजी कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते थे ।

- २१ -

'सूरदास के नयन'

भारतीय कला में आनुपातिक साम्य (Proportionate symmetry) का उतना महत्व नहीं जितना आन्तरिक सौन्दर्य (Internal grace) का। कला की वस्तु में भाव का जो रूप विशेष आकर्षक होता है वही उसके आयास-विन्यास का ध्यान बिना रख प्रकट किया जाता है। संसार के सौन्दर्यानुशीलन से यह बात स्पष्ट विदित होगी। रूप-संगीत (Formal rhythm) में सौन्दर्य तभी आता है जब उसका आधार-पट विरूप और विकृत हो। उसकी मधुरता का भाव क्या कभी सौन्दर्यशील हो सकता था यदि नीलाकाश में पल-पल परिवर्तनशील रंग और प्रकाश उस में एक नवीनता न भर देता! यदि सभी वृक्षों में हर कली हर टहनी और हर पत्ते के स्थान पर गुलाब अथवा कमल ही उगता तो उसे हम सुन्दर कह सकते इसमें सन्देह है! भारतीय दृष्टा मनुष्य की आकृति और उसकी सुन्दरता देखते हैं किन्तु जब वे आत्मिक सौन्दर्य को देखते हैं तो आकृति की गठन और रूप रेखा का सौन्दर्य उनके सामने विकृति में परिवर्तित हो जाता है! वे उस भाव के विशेष तत्वों को सूक्ष्मता और पूर्णता से अभिव्यक्त करने में लग जाते हैं, जिससे पार्थिव तत्व मन्द हो जाते हैं।

भारतीय कला में इस स्वभाव का रूप इस उदाहरण से भली भांति समझा जा सकता है। द्रोणाचार्यजी पाण्डव तथा कौरवों की परीक्षा लेने वन में गये। एक चिड़िया एक टहनी पर रख दी गयी। पाण्डवों में से एक धनुष सम्भाल कर आगे बढ़ा। आचार्य ने पूछा—तुम चिड़िया की आँख, उसके पर पेड़ और हमें देखते हो? उत्तर मिला—हाँ! उसे हट जाने के लिए कहा गया। सबके अनुत्तीर्ण हो जाने पर अर्जुन आगे बढ़े। उनसे भी वही प्रश्न पूछा गया। अर्जुन ने कहा—मैं आंख की उस पुतली

के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता । न पक्षी का धड़, न वृक्ष, न पास खड़े आचार्य । वही अभीष्ट आँख दिखायी देती है—और इस एकाग्र दृष्टि से उस छोटी पुतली का आकार और रूप अवश्य बढ़ित हो गया होगा—सूरदासजी के 'नयन' में भी इसी तूलिका से रंग भरा गया है । उनके नयनों में वे सारे लक्षण आ जाते हैं जो मनुष्य में हैं । उनके नेत्र अपनी कायिक-सीमा का अनुलंघन कर मानव-स्वभाव के धर्म में वर्धित हो गये हैं । सूरदासजी के नयनों में कमल का सा सौन्दर्य नहीं उनमें मछली, खञ्जन मृग जैसे उपमानों की अगतिक (Static) समता नहीं । सौन्दर्य में जो धमनियों में विद्युत्-स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली महागति है उसी गत्यात्मकशक्ति (Dynamic force) से सूरदास के नेत्रों का सृजन हुआ है ।

इसीलिए नेत्रों का अस्तित्व ही शरीर में एक पृथक आकर्षण बन गया है । नेत्र हैं उनके साथ मन है और उन नेत्रों की करतूतों को देखने वाला—उन पर खीजने और झींकने वाला भी कोई है—उसका नाम गोपी रख सकते हैं । फिर एक और भी है वह है कृष्ण । 'नयन' का वास्तविक रूप इस चतुर्विध व्यंग से ही समझा जा सकता है । नयन के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण अर्द्धविषयीपरक (Subjective) नहीं विषयपरक (Objective) हो गया है । मन अर्द्ध विषयीपरक (Semi Subjective) है इसलिए नहीं कि उसमें विषय परक (Objective) तत्व आ गया है वस्तुत मन में विषयपरक (Objective) तत्व नहीं आ पाया । वह अर्द्धविषयीपरक (Semi-Subjective) इसलिए है कि विषयीपरक (Subjective) तत्वों में से स्वानुभूति के तत्वों की 'मन' में कमी है ।

मन ने नेत्रों को ठगा है—सूरदासजी कहते हैं—

'मन के भेद नैन गये माई'

सुनहु सखी मन के ठग ऐसे ऐसी बुद्धि उपाई

'सूर' स्याम लोचन वश कीन्हे रूप ठगौरी लाई

फिर—'मन ते ये अति ढीट भये ।

वह तो जाइ बोलने कबहूँ ये जु गए सु गए '।

और भी—

'नैना भये बजाइ गुलाम

मन बेच्यो लै वस्तु हमारी सुनहु सखी ये काम ।'

इन अवतरणों में मन और नेत्रों के सम्बन्ध की कुछ मर्यादा ह । मन भेद डालने वाला है उसने नयनों को श्याम को बेच दिया है, अथवा उनके अधीन कर दिया है । 'नयन' और 'मन' के अन्वयों में अन्तर ह । नेत्र एक बार चले गये मन उन्हें ले गया । नेत्रों को कवि मानता है कि उनका स्वभाव हठी है वे एक बार जहाँ लग गये फिर वे लौटना नहीं जानते । किन्तु उनमें स्वगति तथा स्वानुभूति नहीं । (Objecture) विषयपरक रूप में ही नेत्र ऐसे हो सकते हैं । किन्तु इनकी विषयपरकता (Objectivity) .दार्थों की विषयपरकता (Objectivity से बिल्कुल भिन्न है । पदार्थों की तरह इनमें गति और अनुभूति नहीं किन्तु चेतना है । हाँ मूर्त सौन्दर्य का इनमें अभाव है और यही एक बात है जो सूरदास के नयनों को विशेषत विषयपरक वर्ग में रखती है । मन में गति भी ह और चेतना भी मूर्त-सौन्दर्य नहीं इस दृष्टि से वह विषयपरक (Objective)नहीं किन्तुविषयीपरकता (Subjectivity) की कुछ झलक लिए हुए है । गति और चेतना के कारण । हाँ स्वानुभूति का अभाव इसे पूर्ण विषयीपरक (Subjective) होने से रोकता ह । वास्तव में विषयपरकता और विषयीपरकता की दृष्टि से हम सूरदास की वस्तु नहीं देख सकते । हाँ इससे इतना समझ सकते ह कि एक नया दृष्टिकोण सूरदास ने उपस्थित किया है जिसका श्रेणी-विभाजन समालोचना-शास्त्र में अभी अपेक्षित है ।

सूरदास का यह पद देखने योग्य ह—

नैन भये हरि ही के री ।
जब ते गये फेरि नहिं चितये ऐसे गुण इन के री ॥१॥
और सुनी उनके गुण सजनी सोऊ तुमहि सुनाऊँ री ।
मोसों कहत शुद्ध नहिं आवै सुनत अचंभौ पाऊँ री ॥२॥
मन भयो ढीट इनहि के कीन्हे ऐसे लीन हमारी री ।
सूरदास इनहिं पत्याने आखिर बड़े निकामी री ॥३॥

नेत्र कृष्ण के हो गये मन भी हो गया, नेत्र में और मन में उनकी छवि भी समा गयी* किन्तु—

यह पद—हमहूँ श्याम को प्यावैं
किन्तु—सुनहु सूर सब ब्याकुल डोलैं, नैन तुरत फल पावैं ।

आत्म-साक्षात् नहीं हुआ। यही अभाव सारी पीड़ा का मूल है—इसमें उस चतुष्टय का स्पष्ट आभास मिलता है—नैन हैं ही, हरि के वे हो ही गये, मन भयो ढीठ,—मन का भी एक पृथक अस्तित्व है—और फिर 'मोसों कहत सुहू नहि आवे'—में 'मो' वही गोपी है। यह चतुष्टय तो ऐसा है जिसका कुछ न कुछ रूप सूरदास के काव्य में प्रकट होता है। पांचवां व्यक्ति और है, और वह सखी है अथवा उद्धव है—सखी का समाहार गोपी में ही हो सकता है, इधर उद्धव का कृष्ण में। यह समाहार की समस्या एक पृथक समस्या है। मनोविज्ञान की दृष्टि से शिकायत करने वाली और शिकायत सुनने वाली एक हो गयी है, उसी प्रकार शिकायत के शिकारों का समाहार हो गया है। इस चतुष्टय में 'गोपी' का रूप समझना आवश्यक है। नयन और 'गोपी' का एक कुटुम्ब सा है इसमें गोपी अपना कुछ विशेषाधिकार समझती हैं। उनका स्थान पिता-माता के सदृश है—विशेषकर नयनों पर तो वे ऐसा ही अधिकार दिखलाती हैं। वे सभी कहती हैं?

'नैना ऐसे हैं बिसवासी।

आन काज कीने हमको तजि सबसे भए निरासी।

प्रतिपालन करि बड़े कराये जानि आपनों अंग'

+ + +

नैना भये प्रगट ही चेरे।

ताको कछु उपकार न मानत हम ने किये बड़े रे।

गोपी 'नयनों' की पालक है। उन्हें 'नयनों' से शिकायत है वे पराम हो गये हैं वे विश्वासघाती हैं। वे 'गोपी' के कृतज्ञ नहीं। वह रोकती है, नयन भाग-भाग कर उधर हो जाते हैं। उलटे गोपियों को फुसलाते हैं —

मो सों कहत तुहूँ नहि आवे सुनत वचम्भो पाऊँ

आश्चर्य की बात है ढीटपन की हद हो गयी है। जिन नेत्रों को गोपी से भयभीत रहना चाहिए उनका आतंक मानना चाहिये वे इतने धृष्ट और मुंहलग होगये हैं—मन भी साथ छोड़ गया है। साथ नहीं छोड़ गया, यह सब उसी की करतूत है—

'कियो वह भेद मन और नाहीं

मन बेच्यौ सै बस्तु हमारी सुनहु सखी ये कान'

गोपी जब इतना 'नयन' और 'मन' की भर्त्सना कर रही है तब वह धीरे-धीरे अज्ञात रूप से स्वयं कृष्ण पर रीझी जा रही है। उसकी रुचि में पहले तो नेत्रों के प्रति कुछ विरोध खड़ा होता है। उन्हें घोर निर्लज्ज स्वार्थी कहा गया है—नेत्रों को धिक्कारा गया है।

मेरे नैना ई अति ढीठ
मैं कुल कान किये रखति ही ये हठि होत बसीठ।
+ + +
कहाँ गए जो आप स्वारथी नैनन अपनी निनंद कराई
जो यह सुनत कहत सोइ भृंग पुत तुरतहि ऐसी भई बड़ाई।

किन्तु फिर क्या हो जाता है कि वह यह कह उठती है—

हौं ता दिन कजरा देहौं,
जा दिन नन्द नन्दन के नैनन अपने नैन मिलैहौं।
सुनरी सखी यहै जिय मेरे भूलमि और चितैहौं।
अब हठ 'सूर' इहै व्रत मेरो राखै मरि जैहौं।

गोपी स्वयं कृष्ण की ओर मूक भयी।

नयन अब तक वश में थे, कृष्ण को देखते ही पराये हो गये धृष्ट हो गये, उद्दण्ड हो गये। गोपी का सम्बन्ध इन नेत्रों के प्रति किसी अपने अभिभावक की भाँति है। अभिभावक पहले अपने बालक को ताड़ता है रोकता है, फिर अपना भाग्य ठोंकता है और उसकी बुरी दशा की कथा दूसरों को सुनाता है। फिर उस पर सहानुभूति करने लगता है। फिर स्वयं भी उनके साथ उसी मार्ग में कुछ झुक जाता है।

गोपी में सके साथ कुलकानि का भाव मर्यादा और धर्म निष्ठा का भाव भी है। नैनों के प्रति इतनी झुँझलाहट का कारण यही है कि वे कुछ लाज को धता बता कर कृष्ण से जा मिले हैं उनके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं।

'गोपी अपनी सफाई भी देती है। वे नेत्रों का अपराध से अपने को मुक्त समझती हैं। वे कहती हैं—

ब्रज घर घर यह बानी
हमहूँ को अपराध लगावहि एक भई दिवानी।

लोचन चपल चारु खंजन मन रंजन हृदय हमारो ।
सुरग कमल मीन मनोहर स्वेत अरुन और कारो ।
रतन जड़ित कुण्डल श्रवणन वर गंड कपोलनि झाईं ।।
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महिं ढूंढत यह छवि पाई ।
मुरली अधर विकट भौंहें करि ठाढ़ो होत त्रिभंग ।
मुक्तमाल उर नील शिखर ते धंसी धरनि जनु गंग ।
और वैसे को कहै बरणि सब अंग-अंग केसरि खौर ।
देखे बनै कहत रसना सों 'सूर' बिलोकत और ।

यह रूप वास्तव में एक समय और क्षण का देखा हुआ नहीं। गोपी-मति ने अब तक कृष्ण के जितने रूप देखे हैं उन सबके संस्मरणों से यहाँ एक मिश्र-रूप उपस्थित कर दिया है। किन्तु कृष्ण के रूप के साथ उसके स्वाभाविक क्रिया चित्र में कहीं अधिक सौन्दर्य है।

'धारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी'

'दौने में दूध दुह कर पीते हुए कृष्ण का दर्शन'—जिसकी कल्पना सूर की कल्पना के साथ उड़ कर इस सक्रिय चित्र की रेखाओं को सजीव बना सकती है वह उस सौन्दर्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकती। पहले पद में जो छबीला राजसी सौन्दर्य अंकित किया गया है उसमें 'भक्ता भक्ति' के अमर्यादित प्रेम के साथ यौवनोद्दाम भावना का रूप है, उसका सात्विक रूप जो मूल की तरह उस राजसी भाव की अभिव्यक्ति को उत्तेजित कर सका है वह इन्हीं पंक्तियों में है—

'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी'

'गोपी के रूप में हमें मर्यादा और अमर्यादा का घोर द्वन्द्व मिलता है। अमर्यादा की विजय होती है। निश्चय अमर्यादा लोक-हित साधक नहीं हो सकती—फिर प्रेम की मर्यादा तो सृष्टि को महा विप्लुत करने वाली है। वह पुण्य की अपेक्षा पाप का सृजन अधिक करती है। यदि सूरदास में केवल वह राजसी-सौन्दर्य लिप्सा की ऐन्द्रिकता होती तो प्रेम की सात्विकता समझना कठिन हो जाता किन्तु उस ऐन्द्रिकता का सात्विक रूप कितना मनोहर है और कितना मूल में सात्विक है जब हम यह जान लेते हैं तो आगमी

लूटहिं ये इन्द्री मन मिलि कैं, त्रिभुवन नाम हमारौ।
'सूर' जहाँ हरि रहत कहाँ हम, यह काहे न बिचारौ।

अत गोपी मनुष्य की वह मनस्भावना है जो लोकाचार और मर्यादा तथा लज्जा से जकड़ी हुई है और मर्यादाबद्ध (Conservative) मति का रूप उपस्थित करती है। मर्यादा और अमर्यादा का संघर्ष ही नयनों में समाहित है। मर्यादाबद्ध मति एक स्वाभाविक प्रेमोल्लास से कृष्ण की ओर आकर्षित हो गयी है—उसमें अमर्यादा की ओर कुछ प्रवृत्ति हो गयी है। सूरदास अमर्यादित प्रेम के पोषक हैं। वे जिस मन की भर्त्सना कर रहे हैं जिन नयनों को डाँट रहे हैं वह सब व्यंग है। साधारण संसार मन को अत्यन्त चंचल समझता है इन्द्रियों को अत्यन्त व्यसनशील। यह समझा जाता है कि ये नीचे की ओर ही जाते हैं। किन्तु प्रेम प्रेरणा में सूर की दृष्टि में और ही बात उपस्थित हो गयी है। उनकी चंचलता तो प्रकट ही है कि वे मर्यादित पथ का साथ छोड़ गये और अमर्यादित प्रेम के प्रतीक श्रीकृष्ण से जा लगे। इन्द्रियाँ भी उधर रूप गयीं—अत संसार इन्हें निंद्य कहेगा ही। गोपी इसी 'संसार' के शब्दों में अपनी मर्यादित-मति का परिचय दे रही है—पर उसकी विवशता कुछ और भी प्रकट करती है। वह विवश है। नयन पागल हो गये हैं वे रोके नहीं रुकते—इस प्रकार गोपी अपनी विवशता से अमर्यादित प्रेम की महत्ता प्रकट करती है। वह स्वोद्भूत प्रेम है और वही जीवनलाभ का सच्चा अर्थ है। 'नयन' इसी प्रेम के अविकल-सौन्दर्य की अनुभूति कराते हैं। उनके इसी सौन्दर्य का साक्षात्कार यहाँ है। पर यह सौन्दर्य संघर्ष के आधार-पट पर है। सुर और असुरों का संघर्ष सदा रहा है। यह संघर्ष ही जीवन की रागिनी का मूल स्वर है। यहाँ सौन्दर्य (Aesthetic) और आचार (Ethics) की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। पहले 'नयनों' की आचार-नीति (Ethics) ही लीजिए।

सूरदासजी भली प्रकार जानते हैं कि जिसके द्वारा किसी व्यक्ति का पालन-पोषण हुआ है, उसके विपरीत आचरण विश्वासघात है, उसके विरुद्ध किसी में विशेष मोह पैदा कर लेना भी बुरा है। स्वार्थी होना, लोक लज्जा त्याग कर धृष्ट होना, लोभ करना, इतराना दयाहीन होना किसी के रूप की ओर एक टक देखना, रसलम्पट होना, गुरुजनों का सकोच न होना, आर्य-पथ त्याग देना,

यह सब अनैतिक (Immoral) हैं । लोक में यह सब अवांछनीय हैं । किन्तु अमर्यादित प्रेम में यही सब बातें ग्राह्य और अनुकरणीय हैं । इसलिए नहीं कि Everything is fair in Love and War' वरन् इसलिए कि (Summum Bonum) जीवन-लक्ष्य की प्रेरणा से ही नीति और अनीति का निश्चय होता है । गोपी की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उसमें मर्यादित-मति की झलक है । वह लौकिक दृष्टि से नेत्रों की गति-विधियों का विरोध करती है, किन्तु अन्त में स्वयं उसी पक्ष का अनुसरण करने लगती है । उस प्रेम-मार्ग में मर्यादा-मति अथवा लोक-निबन्ध हार मान कर चलने लगता है । वह भी में उसी व्रत में दीक्षित हो जाती है । लोक और धर्म के संघर्ष में धर्म की अमर्यादित प्रेम मति की विजय गोपी को तब अनुभव होती है, जब कृष्ण गोकुल से चले जाते हैं । अभाव में ही मूल्य का पता चलता है । नेत्रों के चकोर, भृङ्ग जैसे व्रत और हठ ने गोपियों को वैसे ही कुछ झुका दिया है, किन्तु अब जब कृष्ण भी नहीं तो उनके हृदय भी रिक्त-से दुःखपूर्ण लगते हैं, तब तो उन्हें नेत्रों से संवेदना और सहानुभूति में कोई कमी हैं नहीं रहती । जब उद्धव आते हैं तब वह नेत्रों की करुण-दशा क बड़ा दीन चित्र उपस्थित करती हैं उनकी सिफारिश करती हैं-

अँखियाँ हरिदरसन की भूखी,
कैसे रहैं रूप रस राँची, ए बतियाँ सुनि रूखी ।
× × ×
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पियत पतूखी ।

जो प्रेम की छाप नेत्रों में लगी है प्रेम के कारण जो दुःख और विकलता उनमें पैदा हुई है, उसका यदि आकर्षण कृष्ण में न होता तो सूफियों के प्रेम के समकक्ष हो जाता । किन्तु नेत्रों के आधार का जीवन-लक्ष्य (Summum Bonum) केवल प्रेम नहीं जिसमें प्रेम पात्र के लिए ही प्रेम-प्रेरणा है, यहाँ प्रेम प्रेरणा और प्रेम ही अभीष्ट है । इनके नयनों के आधारों में स्वाभाविक प्रेम प्रेरणा है, किन्तु चरम पुरुषार्थ 'कृष्ण दर्शन' है ।

'कृष्ण दर्शन' में ऐन्द्रियता का मूर्त आधार बिल्कुल स्पष्ट है-

नैनन उहै रूप जो देख्यो ।
तौ ऊधौ यह जीवन जग को साँचहु सफल करि लेखौ ।

हृदय उल्लसित हो जाता है और कृष्ण की साकार मूर्ति हमें प्रेम गद्गद् कर देती है । इस प्रकार के चरम पुरुषार्थ के कारण ही अमर्यादा और अनीतियाँ श्लाघ्य हो जाती हैं । (Ethics) अथवा आचार का प्रश्न, नीति और अनीति का प्रश्न जीवन के ध्येय से सम्बद्ध है । कृष्ण के पीछे आध्यात्मिक भित्ति और धार्मिक साह धर्म के साथ ऐन्द्रिक-सौन्दर्य है—वह महान् ध्येय है—उसके लिए अन्यतम त्याग और लगन की आवश्यकता है । उसमें न केवल मन लगना चाहिए वरन् सारी इन्द्रियाँ अपने अपर विषयों को छोड़ उसी में तन्मय हो जायें, उसी की मनोरमता में निर्विषय हो जाँय तब जीवन-लाभ की प्राप्ति हो सकती है । उठते-बैठते, खाते-पीते यदि वही कृष्ण और उसका रूप सामने है तभी धार्मिक प्रक्रियाओं की पूर्ति हो सकती है, तभी जीवन के सारे आयोजनों की सफलता है । गोपी और उसके नयनों के आचार (Ethics) का यही मर्म है । जिस संघर्ष ने आचार की सुन्दरता प्रकट की है वह नयनों के सौन्दर्य को निखारता है । कृष्ण का मुख और पूर्ण रूप सूरदास ने अवश्य रखा है, किन्तु नयनों का उन नयनों का जिनका चित्र नहीं परिमाकण किया गया है कुछ भी परिचय नहीं । उन्हें 'काजल' अवश्य प्रिय है क्योंकि उसी का लांछन उन्हें दिया गया है । फिर वे खंजन, मीन कमल मृग के से हैं अथवा कैसे हैं यह कुछ विदित नहीं । होंगे ऐसे ही ! किन्तु उनका अन्त रंग सौन्दर्य हमारे सामने अपने अनिर्वचनीय ढंग से उपस्थित है । वे हिमाचल की तरह अटल, नवीन से कोमल कोकिल की पंचम लय से कूकपूर्ण, उषा की मुस्कराहट से खिले हुए—किन्तु घन की एक अगाध अतृप्त तृष्णा से सजीवित—रात्रि दिन के संघर्ष से-सावन के झर से—हाला से मादक । तृष्णा अतृप्ति, दाहक एक चिरन्तन गति और अबाध पीड़ा में जो सौन्दर्य है, वह इन नयनों में है । जिसे नयनों का सा हृदय मिल जाय वह क्या जी पाय ?

– २२ –

सूर और तुलसी

"कथन की विशेषता"

तुलसी-सूर की तुलना होती ही रहती है । एक कहता है —

सूर-सूर तुलसी शशी—

दूसरा 'तुलसी' को नवरत्न में सबसे पहला स्थान देता है । कोई केवल इतना ही कह देता है—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलना करना बड़ा कठिन कार्य है । प्रत्येक कवि अपनी-अपनी प्रतिभा को लेकर आता है । निश्चय ही प्रत्येक की प्रतिभा में निरालापन होता है—मिलाने से नहीं मिलती है सूरत कोई । फिर भी मनुष्य नहीं मानता । उसे तुलना करने में, किसी को बड़ा किसी को छोटा बताने में बड़ा आनन्द आता है । वह जीवन का उत्कर्ष बड़े और छोटे शब्दों के द्वारा ही मापता है । संसार में यदि कोई शब्द महा अनिष्टकर हैं तो वे यही दो विशेषण हैं । मानव-बुद्धि से उत्पन्न इस तुलना की भावना न जाने कितनी अन्याय-बुद्धि उत्पन्न कर देती है । देव और बिहारी में कौन बड़ा है ? इस विवाद ने कभी कितना उग्र रूप धारण किया था, कितनों को बेजाने-बूझे दूसरों का दुश्मन बना दिया था? साहित्यिक विवाद वैयक्तिक संघर्ष हो गया । बिहारी को यदि छोटा समझ लिया जाय तो बिहारी के पृष्ठ पोषकों की नाक नीची होगी देव को छोटा कह दिया जाय तो देव के हिमायतियों को नीचा देखना पड़ेगा । देव और बिहारी का कुछ नहीं बिगड़ता—वे तो जो हैं वही बने रहते हैं छोटे और बड़े तो उनके पक्षपातियों के मन के झूले हो जाते हैं—बात की बात होती है । अत कवियों की तुलना घातक है । कवि एक

सृष्टा है वह अपना जगत रचता है। प्रत्येक का संसार भिन्न होता है। वह देखने ही योग्य, प्रशंसा करने योग्य, मुग्ध होने योग्य होता है। उसकी परस्पर तुलना कहां ? इस महाकाश में अनेकों पिण्ड बिखरे पड़े हैं कौन किसके ऊपर और किसके नीचे है ? ऊँचे-नीचे का भाव तो सापेक्ष्य है। कवि जिस अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है वह निरपेक्ष होता है। तुलसी और सूर जैसे कवियों के सम्बन्ध में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनकी कला निरपेक्ष है उनकी कसौटी उनकी निजी है उन्होंने अपना रूप बिल्कुल अलग रखा है। दूसरे शब्दों में वे दोनों भिन्न जाति के हैं।

तुलसी प्रबन्ध-काव्य लेखक हैं। सूर मुक्त लेखक हैं। सूर अपने काव्यावेग में मुक्त होकर एक ही विषय पर विविध पद लिखते चले जाते हैं। वे इतने गहरे जाते हैं कि तह में डोलते दिखायी पड़ते हैं। पर विस्तार उतना नहीं। उनका क्षेत्र संकुचित है पर अगाध है। बार-बार उसी बात को कहते हैं, पर बड़े मजे से कहते हैं। पर तुलसी को इतना अवकाश नहीं। उन्हें प्रत्येक बात उचित मात्रा में ही कहनी है। उचित स्थान का भी ध्यान रखना है। स्वतन्त्र काव्यावेग की धारा प्रबन्ध और अनुबन्ध के दुकूलों में होकर बही है।

सूर की पुनरुक्ति शृङ्खला में जो तृप्ति है उसे 'कथन की विशेषता' कहा गया है। तुलसी में कहीं इस कथन की विशेषता नहीं मिलती। यह वास्तव में ठीक ही है। सूर और तुलसी के मन्तव्यों में स्पष्ट अन्तर है। सूरदासजी वर्णन करने बैठे। वे जितना वर्णन चाहें कर सकते हैं। तुलसी कथा कहने बैठे हैं। उनमें कथन की विशेषता अपेक्षित रूप में हो आ सकती है।

यदि तुलसीदासजी राम के अयोध्या से लेकर लङ्का तक जाने के मार्ग का ही वर्णन करते चले जाते तो बिल्कुल अनावश्यक होता और एक ऐसा पोथा जो कालिदास के मेघदूत से कहीं बड़ा होता, बन कर तयार होता। उसमें भूगोल और जीव-जन्तु, वनस्पति स्त्री और पुरुषों का वर्णन होता। वह साहित्य की इतनी वस्तु न होता—जितना भूगोल शास्त्र की। ऐसी दशा में बहुत से स्थलों पर केवल इसी शैली में कह देना भर—

आगे चले बहुरि रघुराई।
ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥

पर्याप्त होता है। मार्ग में स्त्री और पुरुष मिलते, पशु-पक्षी मिलते, लतागुल्मादिक मिलते। इन पर राम का क्या प्रभाव पड़ता? प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से राम के व्यक्तित्व में ही सारी शेष सृष्टि का समावेश होना चाहिए। कल्पना का क्षेत्र राम के साथ ही रह सकता है। उससे पृथक होकर दूर जाकर वह प्रबन्ध की घनिष्ठता को विच्छिन्न ही करेगा और अस्वाभाविक हो जायगा।

केशव भी सूर की भाँति मुक्त कवि ही हैं—इसका अर्थ यह नहीं कि वे सूर की कोटि के हैं पर उन्हें भी मुक्त होकर अपनी कल्पना में ऊहापोह करना अच्छा लगता है। इसलिए उन्होंने 'रामचन्द्रिका' जैसे प्रबन्ध-काव्य में स्थान-स्थान पर बड़े विशद वर्णन किये हैं जो बहुत सी सुन्दर सूक्तियों से परिपूर्ण हैं। यदि प्रबन्ध-काव्य में इन्हें न ठूँसा गया होता तो ये वर्णन बहुतों की दृष्टि में बहुत ही श्लाघनीय होते। परन्तु यही वर्णन विशदता अथवा कथन की विशेषता प्रबन्ध-काव्य की घनिष्ठता को विरल कर रही है। ऐसी 'कथन की विशेषता' तुलसीदासजी में नहीं मिल सकती। वे राम से दूर नहीं जा सकते। फिर, मार्ग की जड़ चेतन वस्तुओं पर राम का क्या प्रभाव पड़ा—जब उसका प्रदर्शन भली प्रकार कथन की विशेषता के साथ कई स्थानों पर दिखा चुके, तो फिर 'आगे चले बहुरि रघुराई ऋष्यमूक पर्वत नियराई।' जैसे कथन में कोई दोष नहीं। ऐसे स्थलों पर कथन की विशेषता कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, श्लाघनीय नहीं हो सकती।

जब हनुमानजी रावण के समक्ष पकड़ कर ले आये गये तब उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया—

सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचत माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जो बल सीस धरत सहसानन। अण्डकोस समेत गिरिकानन॥
धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥
हरकोदण्ड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप-दल-मद गंजा॥
खरदूषण त्रिसरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित-बल-साली॥

जाके बल लवलेस ते, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

इसमें यह कहा जा सकता है कि कथन की विशेषता है। यही बात यदि हनुमानजी भी अङ्गद की तरह यों कह देते—

"मैं रघुवीर दूत दसकंधर" तो काम तो चल जाता पर कथन में विशेषता न आती। अंगद के कथन में जैसे लट्ठ सा मारा गया है, हनुमान का कथन विशेषता युक्त है। कथन की विशेषता के यदि यह अर्थ समझे जायें कि जहाँ आवश्यक होने पर किसी बात को खूब विस्तार के साथ बना कर कहा जाय तो तुलसी में भी यह विशेषता पूरी तरह है। यह सूर का ही आवश्यक गुण नहीं कहा जा सकता पर ऐसा है नहीं। कथन की विशेषता का तात्पर्य है किसी वस्तु का ऐसा वर्णन जो केवल वर्णन करने के लिए ही विस्तार और ऊहा से किया जाय। उस विषय में जितना ही उड़ा जा सके जितने गहरे पैठा जा सके उतने पैठा जाय और वर्णन इतना पूर्ण कर दिया जाय कि फिर कल्पना की उड़ान के लिए और ऊँचाई शेष ही न रह जाय। वर्णन के लिए वर्णन यह प्रबन्ध काव्य में हो नहीं सकता। तुलसी के हनुमान द्वारा राम के इन लम्बे चौड़े शब्दों में गुणानुवाद केवल वर्णन-प्रियता के कारण नहीं हुआ। यह इसी रूप में होना घटना स्थिति के योग्य था। हनुमान रावण के सामने पकड़ कर लाये गये हैं। रावण को हनुमान के आने की शंका तक नहीं थी। हनुमान ने जो हानि कर डाली थी वह भी असाधारण थी। उनके मुख पर भी धृष्टता खेल रही थी। आखिर इस बरा से बन्दर में इतना हियाव क्यों? यह प्रश्न रावण के और सभासदों के हृदय में है। हनुमान भी जानते हैं कि रावण पर रौब जमाना आवश्यक है। पहले की बनी धारणाएँ बहुत काम करती हैं इसीलिए उन्होंने राम का परिचय इन बड़े बड़े शब्दों में दिया। यह कवि की ऊहा मात्र नहीं, यह कथन आवश्यक था। रावण को राम का परिचय मिले, वह हनुमान का गुरुत्व समझे—इसीलिए हनुमान भी केवल सन्देश वाहक थे, वे दूत भी नहीं थे। धृष्टता करने के कारण, बँदी की तरह रावण के सामने गये थे इस कारण भी उन्हें राम का प्रभुत्व दिखाना आवश्यक था। यहाँ कथन की विशेषता नहीं।

उधर, अङ्गद राम के दूत की तरह गया था। राम अब रावण के लिए कोई नयी वस्तु नहीं थे। वे लंका पर चढ़ आये थे। हनुमान से उनकी शक्ति का पता रावण को पहले लग ही

गया था। फिर अङ्गद केवल अपना परिचय देने ही तो नहीं आये थे। उन्हें तो भारी काम सम्पादन करना था। ऐसी दशा में राम का परिचय बहुत से शब्दों में देना अनावश्यक ही था। दो शब्दों में उन्होंने अपने दूतत्व का परिचय दे दिया—'मैं रघुबीर दूत दसकन्धर' और अपना दूतत्व आरम्भ कर दिया। 'मम बल कहि तोहि रहिमिताई' यहां से वे अपना दूत-कार्य सम्पादन करने लगे। अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि का यह कैसा सुन्दर चित्रण है। यहाँ यदि अङ्गद भी हनूमान की तरह कहने लगता तो वह अङ्गद नहीं रहता। अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि के कारण ही उसे दूत बनाकर भेजा गया था। ऐसी बुद्धि और गाम्भीर्य हनूमान में कहाँ? अब हनूमान और अङ्गद के कथनों के अन्तर से 'कथन की विशेषता' को नहीं समझाया जा सकता। वास्तव में यह मुक्त वर्णन-शीलता तुलसी में नहीं। तुलसी की कला का आदर्श ही मु नहीं उसका मार्ग कठिन मार्ग है—अनेकों संयमों से घिरा हुआ र्यादा-मार्ग। सूर का मार्ग मुक्त है और कहीं-कहीं उच्छृङ्खल भी

कला का मर्म

तुलसीदास की रचनाओं का जितना गहन अध्ययन अभी त
किया गया है उतना सूरदास की रचनाओं का नहीं किया गय
परन्तु जितना भी अध्ययन हुआ है। उससे यह सिद्ध होता
है कि सूरदास एक महाकवि हैं। इन दोनों की शक्ति और
महत्ता पर विचार करते हुये कुछ मोटे-मोटे अन्तर भी बतलाये
गये हैं और इनकी समानता के ऊपर भी कभी-कभी प्रकाश
डाला गया है।

यह कहा जाता है कि सूरदास कृष्ण के बालक-रूप के उपासक थे लीलाधाम की लीलाओं का जो ललित और सुभावना रूप बाल्य-काल की भोली और चटपटी क्रीड़ाओं में देखा जा सकता है वह युवाकाल की वार्तों में नहीं देखा जा सकता जाति को नैराश्य से उठाने के लिए मनोरंजक रूप की माव श्यकता थी सूरदास न उसे दिखाया। वे मनोरंजक लीला-मय रूप के उपासक थे। उधर तुलसीदास ने लोक-व्यापार-व्यापी मङ्गल-मय रूप दिखाया। उन्होंने चरित्र के आदर्श को सामने रक्खा। उन्होंने एक कसौटी बनायी जिस पर जीवन की परख हो सके। उन्होंने भी किसी सामयिक आवश्यकता की ही पूर्ति की है।

फिर, सूरदास ने कृष्ण के शृङ्गार का इतना रञ्जित वर्णन किया है कि यदि वे बाक्य सूरदास के लिखे न होते तो पाठक पढ़ने पर भी प्रयत्न करने पर भी उस में भक्ति न ढूंढ पाते। सूरदास का क्षेत्र बहुत संकुचित है तथापि गहरा बहुत है। तुलसीदास की तरह सूरदास के काव्य में बहुमुखता नहीं पायी जाती।

सूर और तुलसी के उपास्य देवों में निःसन्देह बड़ा भारी अन्तर है। यह तो है ही कि एक कृष्ण-रूप के और एक राम-रूप के उपासक हैं साथ ही यह भी मानते हैं कि एक की भक्ति सखा भाव की है और दूसरे की दास भाव की। परन्तु उनके उपास्य देवों के स्वभाव में भी अन्तर है।

सूरदास श्रीकृष्ण' को निश्चित रूप से विष्णु का अवतार मानते हैं और उनका यह विष्णु सर्व शक्तिमत्ता से युक्त है। तुलसीदास के राम विष्णु के अवतार नहीं हैं।

सूरदास ने कृष्ण के वर्णन के साथ जहां कहीं अन्य देवों का भी वर्णन किया है, वहां विष्णु के नाम का उल्लेख नहीं किया है। सूरदास लिखते हैं—'शिव सोचत विधि बुद्धि बिचारत' तथा 'जे पद कमल शम्भु चतुरानन हृदय कमल अन्तर राखें। ऐसे प्रत्येक स्थल में इसी प्रकार केवल 'शम्भु' और 'चतुरानन' का ही वर्णन आया है, 'हरि' अथवा 'विष्णु' का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः कृष्ण ही विष्णु ठहरते हैं। इसी प्रकार विष्णु के अवतारों के सभी रूपों के भी वर्णन हैं।

उधर तुलसीदास ने राम को त्रिदेवों से पृथक एक अद्भुत सत्ता माना है। तुलसीदास ने राम को 'ब्रह्म परमारथ रूपा, अविगत, अलख अनादि अनूपा' एवं 'सकल बिकार रहित गतभेद' बतलाया है। सूरदास की तरह राम का वर्णन करते समय उन्होंने विष्णु को छोड़ नहीं दिया, तीनों देवताओं का एक साथ वर्णन किया है। इस प्रकार उन्होंने राम को इन तीनों के अतिरिक्त एक भिन्न शक्ति निश्चित किया है। उनके राम 'ब्रह्म परमारथ रूपा', अविगत, अलख, अनादि, अनूपा, सकल बिकार रहित गतभेद' हैं। वे शुद्ध 'सच्चिदानन्द-मय' हैं। वे 'चराचर-नायक' हैं।

अपने दृष्टि-कोण को और भी स्पष्ट करते हुए तुलसीदास जी लिखते हैं—'जगु पेखन तुम देखन हारे, बिधि हरि शम्भु नचावनिहारे'। इस प्रकार उनके राम उस तमाशे को देखने वाले हैं जिसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश करने वाले हैं। सूरदास ने कहीं भी ऐसा प्रयोग नहीं किया है। जहाँ उन्होंने 'कृष्ण' का नाम लिया है अथवा उनकी प्रशंसा की है, वहाँ उन्होंने निश्चय

ही विष्णु का उल्लेख नहीं किया ।

परन्तु तुलसी के मानस का एक स्थल चक्कर में डाल देता है । रामचन्द्र गङ्गा पार उतरने के लिये केवट से आग्रह करते हैं । तुलसीदास को यह बात विचित्र लगती है वे कहते हैं—

जासु नाम सुमिरत एक बारा । उतरहिं नर भवसिंधु अपारा ॥
सोइ कृपालु केवटहिं निहोरा । जेहि जगु किय तिहु पगहु ते थोरा ॥

अर्थात् जिसके नाम का उच्चारण-मात्र भवसागर जैसे महा भयङ्कर और असीम सागर से पार कर देता है—वही राम जरा सी गङ्गा से उतरने को केवट की खुशामद कर रहे हैं । जिसने तीन पग में सारे संसार को वामनावतार में नाप लिया उसी राम से उसी संसार की एक नदी आज नहीं उतरी जाती ! उसके लिए वे केवट की खुशामद कर रहे हैं । कैसा गद्गद कर देने वाला दृश्य है ? 'प्रभु' ने भक्त के रञ्जनार्थ कैसा दीन रूप धारण किया है ? अनन्य भक्त तुलसीदास के हृदय के कौतूहल और उल्लास को इस स्थल पर उबलता हुआ कौन नहीं देख सकता ? तो क्या यह उनकी भक्ति-भावना ही उनके राम को वामनावतार में निरूपित कर गयी अथवा उनके समय में प्रचलित उपासनावाद का प्रभाव उन पर पड़ गया, क्योंकि वामनावतार विष्णु का अवतार था । परन्तु इसका निराकरण हो जाता है । उनका वह अनादि अरूप ब्रह्म 'भगत भूमि भूसुर' के लिए अवतार धारण करता है, उसमें किसी प्रकार भी विष्णु का आरोप नहीं हो सकता । जिस प्रकार तुलसीदास के 'राम' विष्णु नहीं ब्रह्म के अवतार हैं, उसी प्रकार उनका वामनावतार भी ब्रह्म का अवतार है ।

परन्तु उपर्युक्त निराकरण ठीक नहीं ठहरता है । तुलसीदास-जी लिखते हैं—

पदनख निरखि देवसरि हरषी ।
सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी ॥

देवसरि क्यों हर्षित हुई ? यह कथा है कि गङ्गा विष्णु के 'पदनख' से प्रसवित हुई । राम के चरणों में वही पितृ चरण-नख देख कर 'देवसरि' को प्रसन्नता हुई । तो क्या रामचन्द्र विष्णु

थे ? यहां तो अवतारवाद का तर्क भी नहीं जम सकता। विष्णु अपने रूप में कोई अवतार नहीं हैं। हां वे ब्रह्म के एक शक्ति प्रतीक हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्मा, विष्णु महेश ये तीनों ही कोई पृथक सत्ता रखने वाले देव नहीं हैं किन्तु उसी ब्रह्म की तीन भिन्न शक्तियों के प्रतीक मात्र हैं। अतएव ब्रह्म में ब्रह्मत्व भी है यही रचयिता है उसी में विष्णुत्व है उसी म महेशत्व है।

सम्भवत इसी सम्बन्ध से उन चरणों को विष्णु का चरण समझ कर देवसरि प्रसन्न हुई। परन्तु इस कल्पना के अतिरिक्त और कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर ऐसा सम्बन्ध केवल विष्णु से ही क्यों दिखाया गया है शम्भु से क्यों नहीं दिखाया गया है ? देवसरि का सम्बन्ध तो शम्भु से भी था और विरञ्चि से भी। तब यह पक्षपात क्यों ? यहां न सही, एसी ही शैली में और किसी स्थल पर राम में शम्भुत्व की स्थापना कर सकते थे। किन्तु उनकी वैष्णवीय प्रेरणा ने उन्हें ऐसा न करने दिया। वे राम को विष्णु नहीं मानते पर वे उन्हें वैष्णवीय दृष्टि से देखते हैं। उधर सूरदास कृष्ण को विष्णु मानते हैं। वे वैष्णव हैं।

यहां वैष्णवों को स्थिति समझ लेना उचित है। प्राय वेदान्तवादी ब्रह्म का जो रूप निर्दिष्ट करते हैं वही रूप वैष्णव लोग विष्णु का करते हैं। विष्णु और ब्रह्म में उनके लिए कोई अन्तर नहीं है। वैष्णवों की तरह वे विष्णु को ब्रह्म से पृथक एक शक्ति प्रतीकमात्र नहीं मानते हैं।

सूर और तुलसी की धारणा में यह अन्तर हो जाने से उनकी शैलियों में भी अन्तर उपस्थित हो गया है। सूर के विष्णु का एक विशेष स्थान है, उनका आकार प्रकार भी है। तुलसी के ब्रह्म में रूप रेखा कुछ नहीं है। सूर कृष्ण के मूल-रूप का स्मरण उनकी वैष्णवीय क्रियाओं के चित्र दर्शन द्वारा कर सकते हैं उनके रूप रङ्ग, उनके रहन-सहन का वर्णन करके वे अपने उपास्यदेव के रूप को हमारे सामने रख सकते हैं। तुलसीदास उस 'सकल विकार रहित गतभेद' का वर्णन करने में कौन सा चित्र रख सकते थे ? वे तो केवल उसके गुणों का बखान कर सकते हैं, उसके नाम भी याद कर सकते हैं।

हम देखते हैं कि सूरदास कृष्ण का वर्णन करते-करते उनके अद्भुत रूप का वर्णन करने लगते हैं—

कर गहि पग अँगुठा मुख मेलत
सिव सोचत विधि बुद्धि बिचारत,
बट बाढ्यो सागर जल झेलत।

उनके ऐसे वर्णन से हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। हम कहीं भूल न जायँ, इसलिए सूरदास कृष्ण का शिव विरञ्चि देवताओं को चकित कर देने वाला प्रभावोत्पादक रूप हमें दिखा देते हैं। परन्तु तुलसीदास केवल—

'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल'॥

कह कर हमें भूल हो जाने से बचाते हैं।

जब बालक कृष्ण से देहरी नहीं लाँघी जाती तब सूरदास भी आनन्द और कौतूहल के वश वैषम्य को दिखाते हैं उनके सामने भी वामन के तीन पैर आ जाते हैं, साथ ही विष्णु के और अवतारों का भी उल्लेख कर जाते हैं। ऐसे वैषम्य से तुलसीदास को भी कौतूहल होता है उन्हें कहना पड़ता है कि जिन्होंने तीन डगों में सारी पृथ्वी नाप ली वही केवट की खुशामद कर रहे हैं। दोनों कवियों के हृदय में एक-सा विस्मय है पर कहने का ढंग अलग-अलग है। एक स्थल पर नहीं अनेक स्थलों पर सूरदास ने कृष्ण के विष्णु के रूप की इसी प्रकार याद दिलायी है। हमें बतलाया है कि 'भूल मत जाना' कृष्ण मनुष्य नहीं, किन्तु विष्णु के अवतार हैं। इसी प्रकार तुलसीदास ने भी बार-बार राम का स्मरण कराया है। बात दोनों की एक है, पर हम दोनों में भिन्न हैं क्योंकि दोनों ने वस्तु के तत्व को भिन्न प्रकार से ग्रहण किया है। ऐसी दशा में इसके लिए केवल तुलसीदास ही दोषी नहीं समझे जा सकते हैं। उनके ब्रह्म का कोई आकार न होने के कारण वे सूरदास की तरह लीलात्मक रूप से राम का विभिन्न स्मरण न करा सके, साथ ही उनके प्रबन्ध-काव्य ने उनके ऊपर और भी अनेक बन्धन डाल रक्खे थे।

निःसन्देह अपने इष्ट का स्मरण कराने का सूरदास का ढंग सजीव और बहुत ही नवीन है। वह कलात्मक भी है। फिर चाहे वह धार्मिक दृष्टिकोण के द्वारा ही क्यों न हुआ हो? यहाँ हम देखते हैं कि धार्मिक विश्वास किस प्रकार काव्य की दिशा में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं।

भ्रमरगीत का एक मर्म

भ्रमरगीत की परम्परा पर विचार करते समय साधारणतः दूत-काव्यों का उल्लेख किया जाता है, और वेद तक में दूत काव्य के अस्तित्व के दर्शन किये जाते हैं। फिर इस दूत परम्परा का साहित्य में हमें अनुकरण मिलता है[1] किन्तु वह कालिदास के 'मेघदूत' में काव्यत्व के चरम पर पहुँच जाता है। कालिदास के उपरांत तो दूत-काव्य परम्परा पर्याप्त दीर्घ है।[2]

'दूत' शब्द का सबसे पहले व्यवहार किस क्षेत्र में हुआ यह तो नहीं कहा जा सकता पर शब्द की आत्मा जैसे इसे राजनीति क्षेत्र में जन्म लेने वाला बताती हो। तब यह साहित्य-क्षेत्र में वहीं से उधार लिया गया है। साहित्य-क्षेत्र में आकर 'दूत' हमको

---

१ कालिदास से पूर्व रामायण में वाल्मीकि ने हनुमान को सन्देश लेकर सीता के पास भेजा। कुछ लोगों का विश्वास है कि यह मेघदूत रामायण के हनुमत्संदेश की प्रेरणा से ही लिखा गया। मल्लिनाथ ने लिखा है—'सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः।" श्री कन्हैयालाल पोद्दार जी ने उदाहरण सहित इस कथन की सत्यता सिद्ध करने की चेष्टा की है। महाभारत में भी दूत की परम्परा है।

२ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जी ने १८ दूत-काव्य गिनाये हैं जो मेघदूत के अनुकरण पर बने हुए बताये गये हैं: १—पार्श्वाभ्युदय [जिनसेनाचार्यकृत] २—नेमिदूत [विक्रम] ३—हंस सन्देश [वेदान्ताचार्य], ४—कोकिल-सन्देश [उदण्ड शास्त्री], ५—शुक-सन्देश [लक्ष्मीदास], ६—पवनदूत [धोयी], ७—पवनदूत [वादि चन्द्र], ८—चन्द्रदूत [विनय विजय], ९—मनोदूत [तैलंग व्रजनाथ], १०—पदाङ्क दूत [कृष्णसार्वभौम], ११—उद्धवदूत [माधव कवीन्द्र], १२—उद्धव सन्देश, १३—हंस दूत [रूप गोस्वामी], १४—भ्रमरदूत [भ्रमरराम. [illegible]—[illegible] दूत [[illegible]]

हि० मे० दू० विमर्श पृ० ११

शृंगार रस का अन्यतम सहायक प्रतीत होता है। विशेषतः दूत शब्द जब स्त्रीलिंग 'दूती' बन जाता है, तो साहित्य में शृंगार रस के लिए कितने ही भावों में अनिवार्य हो जाता है। 'दूत' पुरुष-पक्ष से अथवा नायक-पक्ष से सम्बन्ध रखता है, 'दूती' नायिका-पक्ष से। दूत नायक की ओर से 'नायिका' के पास पहुँच कर नायिका की केवल मनोस्थिति का पता ही नहीं लगाता, नायिका के मन में प्रेम-भाव को और उद्दीप्त करने का प्रयत्न करता है। नायिका को नायक से मिलने का संदेश देता है, और उसे सहेट स्थान का भी संकेत देता है। नायिका के मान को भंग कराने में भी वह सहायक होता है।

साहित्य के रस-शास्त्र में दूत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'रति भाव' के परिपाक के लिए, शृंगार-रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति में सहायक होने के लिए दूत अपरिहार्य-सा विदित होता है। शृंगार रस में अवलम्ब और आश्रय उभयाश्रित और उभयान्वित रहते हैं। नायक और नायिका में से दोनों एक-दूसरे के लिए अवलम्ब और आश्रय दोनों ही होते हैं। अतः रति-भाव की समग्र अवस्थिति के लिए नायक तथा नायिका दोनों में ही रति भाव जाग्रत होना चाहिए। यदि केवल रति भाव एक पक्षगत है, तो या तो उसे भक्ति-कोटि की अनन्य रति का रूप मिलेगा जिसकी प्रकृति का 'चातक' की अन्योक्ति से तुलसीदास ने निरूपण किया है—

> तुलसी चातक चित कबहुँ, चहत न प्रिय के दोष।
> तातें प्रेम-पयोधि की, तुलसी नाप न जोख।
> उपल बरसि गरजत तरजि, पंख करत टुक टूक।
> तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहिं चूक।

या, फिर वह रति भाव ही तिरोहित हो जायगा। रति भाव के लिए स्वयं रति-भाव ही एक प्रकार का उद्दीपन होता है। अतः रति-भाव पारस्परिकता की अपेक्षा रखता है। रति भाव की दूसरी विशेषता यह है कि यह अत्यन्त संकोचशील होता है। इस संकोचशीलता के कारण ये हैं—रति भाव मौलिक प्राकृतिक भाव है जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकृति की मौलिक प्रजनन क्रिया

अथवा सृष्टि विस्तार की क्रिया से है। विस्तार की भावना के साथ प्रकृति का दूसरा मौलिक भाव 'रक्षा प्ररणा' का होता है, जो सृष्टि सृजन की क्रिया से गहरा गुंथा रहता है। विस्तार और रक्षण' के भावों के साथ 'प्रकाशन और गोपन की चेष्टाओं का सम्बन्ध है। इन दोनों चेष्टाओं के अपने क्षेत्र बन जाते हैं— प्रकाशन का क्षेत्र 'आत्मीय' कहा जा सकता है और 'गोपन का परीय'। आत्मीय क्षेत्र में प्रकाशन की चेष्टा और परीय क्षेत्र में गोपन की चेष्टा से ही मौलिक 'सृजन और रक्षण' का प्राकृतिक अभिप्राय पूर्ण होता है। इन प्राकृतिक मूल भावों का मर्म भी प्रकृति में विद्यमान 'जीवन और 'मृत्यु' में सतत संघर्ष के कारण ही हुआ है। वेद ने इस स्थिति को इस मन्त्र में भली प्रकार स्पष्ट किया है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

इस अमृत्यु (जीवन) —प्रसार—प्रकाशन—रति और मृत्यु—सकोच—रक्षा—गोपन—भय का समवायी सम्बन्ध है दोनों एक साथ अस्तित्व ग्रहण करते हैं। प्रसार अथवा रति भाव को गोपन का भाव रक्षा के अभिप्राय से प्रकृतत ही घनिष्ठ रूप से आवृत किये हुए है। प्रकाश-गोपन के इसी प्राकृतिक व्यापार की धूपछाया 'लज्जा' बन जाती है, यह 'लज्जा' रति पक्ष में प्रकट होती है। क्योंकि 'अस्तित्व' की प्राथमिकता होती है रक्षा भाव ता अस्तित्व के निमित्त को सिद्ध करने के लिए ही होता है। 'आत्म' प्रकाश के लिए रति-भाव 'पर' से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है पर यह 'परत्व' भाव-भय सकोच और गोपन की प्रकृति का सूत्रपात करता है—तब प्रकृति का उद्देश्य कैसे पूर्ण हो? रति पक्ष निस्सकोच भाव से परत्व का पूर्ण समर्पण करके अपने मूल भाव की स्थिति की सम्भावना उत्पन्न नहीं होने देना चाहता। वह उस 'पर' में भी आत्म भाव का दर्शन चाहता है—आत्म भाव के दर्शन के अर्थ हैं 'पर' में भी 'रति भाव' के उद्रेक का ज्ञान। दूसरे शब्दों में 'पर' का 'आत्म' में तादात्म्य भाव। इसके लिए 'आत्म' पर के सम्बन्ध में आश्वस्त होना चाहेगा—तभी उसे 'दूत' की अपेक्षा होगी अर्थात् एक मध्यस्थ की।

यह रति भाव मूलत आध्यात्मिक है मात्र प्राकृतिक अथवा

भौतिक प्रक्रिया नहीं। प्रकृति तत्व अथवा भौतिक तत्व तो अमीबा की भाँति स्वयमेव बिना रति भाव के ही 'एको हं बहुस्याम' की साधना कर सकता था। किन्तु मानव के प्राणों में रति द्वारा द्वैत को अद्वैत भाव में तिरोहित करने की जो छटपटाहट है वह पाश विक भाव अथवा भौतिक प्राकृतिक भाव से भिन्न ही एक भाव से अभिमण्डित रहती है। फलतः मानव का मन रति भाव को एक अलौकिकता से युक्त करके देखता है, वह उसे प्रकृति के मात्र विस्तार भाव सूक्ष्म भाव संतति-परम्परा के क्षेत्र से, मात्र काम भाव से आवृत नहीं देखता, वह उसे प्रेम का नाम देता है। उस प्रेम को वह काम भाव की भाँति अस्थाई, क्षणभंगुर रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। वह इस प्रेम में अनन्त और अनादि को प्रतिष्ठित पाता है। वह उस प्रेम को किसी अनन्त और अनादि सत्ता का समवायी मानता है उसी का प्रतिरूप। तब वह उस अनन्त और अनादि सत्ता को कोई नाम दे देता है जैसे 'ब्रह्म' और यह अनु भव करता है कि प्रकृति में सिसृक्षा की प्रवृत्ति इसी अनादि-अनन्त ब्रह्म की प्रेमानुभूति की लीलामय अवतारणा है—जो आकार ग्रहण कर लेती है। यह साकार सृष्टि और इसकी समस्त प्राकृ तिक रति-भावना साक्षात उस ब्रह्म के समवाय प्रेम भाव के विस्तार क्रम का परिणाम है—क्षण-भंगुर, नाशवान अतः विषाद और दुःख से परिव्याप्त—इस ओर प्रवृत होता होता वह दुःख से तड़प उठता है तब इस रति भाव को भूत-सत्ताओं से विलग कर प्रेम की ओर उन्मुख होता है, और उस प्रेम में से लौकिकत्व का निवारण कर भक्ति का अलौकिकत्व प्राप्त कर लेता है। इस भूमिका में वह दूत 'गुरु' का रूप भी ग्रहण कर लेता है। आध्या त्मिक क्षेत्र में गुरु, पैगम्बर अथवा दूत के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! ब्रह्म तथा आत्मा या जीव नायक या नायिका बन जाते हैं।

ये दूत कई प्रकार के कार्य करते हैं। वे केवल अपने पक्ष का चित्र भर देते हैं—

सिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर,
भये न केते जगत में, चतुर चितेरे कूर।

चित्र-वर्णन में भी दूत का अभिप्राय यही होता है कि नायक अथवा नायिका को दूसरे के प्रति आकृष्ट किया जाय। रति भाव

का बीजारोपण किया जाय।

वह उस वर्णन के द्वारा सहानुभूति, संवेदना अथवा करुणा का भी समावेश कर सकता है। नायक अथवा नायिका का मन प्रवित कर सकता है। वह नायक-नायिका के मिलन की विधि बता सकता है, मिलन का स्थान बता सकता है। वह उनके मान को भग कराने में सहायक हो सकता है। वह अन्य अनेकों प्रपंच कर सकता है। यहाँ तक कि वह उन्हें उपदेश भी दे सकता है। पर सभी का लक्ष्य होगा यही कि परस्पर नायक-नायिका के प्रेम विषयक भावों का परिचय मिले और वे एक-दूसरे के निकट आते जायँ, उनके बाह्य बाधाएँ और बंधन शिथिल होते जायँ या टूटते जायँ उनके ऐसे मानसिक संस्कार जो संकोच उत्पन्न करते हैं दूर होते चले जायँ। दूत यथार्थ स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने और संधि कराने के लिए प्रयत्नशील रहता है। विग्रह अथवा विकर्षण के लिए भी दूत का उपयोग हो सकता है पर वह हो सकता है किसी प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा।

अब उद्धव की स्थिति देखिये—

कृष्ण उद्धव को गोपियों के पास भेजते है जिसका स्पष्ट अभिप्राय है कि प्रेमी अथवा नायक प्रेमिका अथवा नायिका के पास सन्देश भेजता है। फलत उद्धवजी संदेशवाहक 'दूत' कहे जा सकते हैं।

सन्देश-वाहन तो दौत्यकर्म है, इसमें सन्देह नहीं। पर यह दौत्यकर्म किस अभिप्राय से है? १ उद्धवजी के ज्ञानवादी अहंकार को नष्ट करने के लिए, और उन्हें प्रेम-मार्ग के मर्म का ज्ञान कराने के लिए।

२ गोपिकाओं को कृष्ण से विमुख करके ब्रह्म में मग्न कराने के लिए।

सूरसागर में प्रथम दृष्टि का तो संकेत स्पष्ट मिलता है—

गोपिन के परमोधन कारन, जैहैं सुनत तुरत

अति अभिमान करैगो मन में जोगिनि की यह भाँति॥३४१६॥
४०३७

जोग को अभिमान करिहै ब्रजहि जैहै धाइ ॥३४२१॥४०१२

कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भर्यौ अहंकार
प्रेम भजन न नैंकु याक, जाइ क्यों समुझाइ।
सूर प्रभु मन यहै आना, ब्रजहि देउ पठाइ ।।३४१३।।४०३१

उद्धव में योग ज्ञान का अहंकार था। पर थे वे कृष्ण के सखा। कृष्ण को यह बात कुछ अखरती थी—

जदुपति सखा ऊधौ जानि।
लगे मन मन यहै सोचन भली नही यह बानि।
मस मुख भरि होत ठाढ़ौ निठुर जैसी काठ।
संग यह नहिं बनत नीकौ

\+ \+ \+ \+

सूर कैसहु प्रेम पावै तबहि होइ सुरूप ।।३४१२।।४०३०

काठ जैसे निठुर का साथ कैसे शोभा दे सकता है। यही नहीं इनसे तो बात करना भी कठिन है। क्योंकि कृष्ण सोचते हैं—

जौ कहौं सौ करै क्यौं यह निविहै अस मोहि ।।३४१२।।४०३०

और—बात कहत न बनत यासौं निठुर जोगी जंग।
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रस भंग—।।३४१४।।४०३२

वह फिर सोचते हैं—

सग मिलि महौं कासौं बात
यह तो कहत जोग की बातें जामैं रस भरि जात ।।३४१५।।
४०३१

इसीलिए कृष्ण समझते हैं कि—

हंस काग कौ संग भयौ। ।।३४१८।।४०३६

इस बाधा को दूर करने के लिए ही कृष्ण ने निश्चय किया कि—

याकौ ज्ञान थापि ब्रज पठवौ और न याहि उपाउ
सुनहु सूर याकौ ब्रज पठऊ भलो बनैगौ दाँउ ।।३४१८।। ४०३६
याहि और नहिं कछू उपाइ।
मेरी प्रगट कहौ नहिं मानि है ब्रज हौं देउं पठाइ ।।३४११।।
४०३७

कृष्ण देखते हैं कि जहाँ तक रूप का प्रश्न है—'सखा सखा कछु अंतर नाहीं'—वे जैसे कृष्ण के प्रतिरूप ही हैं, 'अति सुन्दर

तन स्याम सरीखौ'—पर इस सुन्दरता के साथ वैसी ही बुद्धि तो नहीं है—'ऐसे के वैसी बुधि होती।' यह बुद्धि प्रेम पाने से ही हो सकती है—

सूर कैसेहुँ प्रेम पावै, तबहि होइ सुरूप।

किन्तु यह प्रेम कहने से तो उत्पन्न नहीं होगा—'विरस रस किहिं मंत्र कहियै' ॥३४१३॥४०१०। क्योंकि उद्धव को भी तो अपने मत का हठ था, और अहंकार भी। अतः गोपिकाओं से मिलकर ही ये दोनों बातें सिद्ध हो सकती हैं—अहंकार का नाश और प्रेम का उदय। इन दोनों की ही उद्धव को आवश्यकता थी।

कृष्ण को यह परेखा था कि—

रेख रूप न बरन जाकैं, इहिं धरयौ वह मेम।

त्रिगुन तन करि लखत हमकौं ब्रह्म मानत और।

यह भ्रम उद्धव को है कि कृष्ण ब्रह्म नहीं, ये तो त्रिगुण से युक्त हैं। साकार हैं। ब्रह्म तो त्रिगुणातीत है। वह ब्रह्म तो कोई और है।'

इससे स्पष्ट है कि उद्धव को कृष्णजी ने दूत बनाकर भेजने का विचार इसलिए नहीं किया कि वह गोपियों के पास कोई प्रेम संदेश भेजना चाहते थे। और कृष्ण की दृष्टि में भी संदेश भेजना गौण ही था—

ज्ञान बुझाइ खबरि दै आवहु एक पंथ द्वै काज ॥३४१२॥ ४०५०

उद्धव को ब्रज भेजने के उक्त दो कारण हो मुख्य थे जिनका भी केवल एक ही अभिप्राय था कि उद्धव में कृष्ण की मित्रता की पात्रता आ जाय, और ब्रज के रस की बातें उनसे कर सकें। अथवा, वह कृष्ण के साकार रूप में ब्रह्मत्व को भी मान्यता प्रदान करें।

इस दृष्टि से उद्धव का दौत्य 'नायक-नायिका सम्बन्ध की दृष्टि से कुछ भी नहीं रहता।

इसी विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने उद्धव को इसी लिए दूत बनाकर नहीं भेजा था कि वह गोपियों को ज्ञान दे आयें अथवा उन्हें कृष्ण से विमुख कर आयें। यद्यपि उद्धव

से बारम्बार और हर बार कृष्ण ने यही कहा है कि गोपियों को मुझ से विमुख कर आओ—

जोग ज्ञान परबोधि सबनि कौं, ज्यौं सुख पावैं नारि।
पूरन ब्रह्म अकल परिचै करि, डारैं मोहि बिसारि ॥३४२८॥
४०४६

उन्होंने यह भी कहा कि उनका 'विरह' दूर कर आओ—

विरह जंजाल मेटि गोपिनि कौ, आवहु काज निबाहि।
॥३४३०॥४०६८

तुम ब्रज नारि जानि मन सकुचत, कहि धौं जोग सुनावहु।
बानी कहत समुझि मै लैहैं, कही हमारी मानी।
बिरह दाह यह सुनत बुझै हैं, मानों अमलहिं पानी।
सबहीं जाइ विकल सब गोपी, जोग वचन कहि पोषो
॥३४३३॥४०५१

हमहिं बिना गोपिका बिरहिनी, तिनके दुख हरौ।
॥३४२८॥४०४६

काम पावक, सूल तन में। बिरह स्वास समीर।
जरि भसम नहिं होन पावैं। लोचननि के नीर ॥३४२७॥४०४५

निषेध की स्थिति के उपरान्त विधि की स्थापना की बात भी कृष्ण ने बतायी है—

१ स्तुति सन्देश सुनाइये ॥३४२७॥४०४५

२ पूरन ब्रह्म अकल अबिनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं जाके नहिं पितु-माता।
यह मत दै गोपिनि कौं आवहु, बिरह नदी में भासत
सूर तुरत तुम जाइ कहौ यह, ब्रह्म बिना नहिं आसत ॥
॥३४२६॥४०४४

आदि

कृष्ण के स्थान पर निर्गुण 'ब्रह्म' की स्थापना करके, योग मार्ग सिखाने का परामर्श भी दिया है—

१ सोइ कीजो जातें व्रजबाला, साधन सीखें जोग।
॥३४३२॥४०५०

२   योग बचन कहि पोसी   ॥३४३३॥४०२१

यह सब इसलिए कि वे सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सकें। ब्रह्म में लीन होने का मार्ग पा सकें—क्योंकि उन्होंने मुझे सर्वस्व अर्पित किया तो तीन चीजें तो उन्हें मिल गयी—१ सालोक्य, २ सामीप्य तथा ३ सारूप्य।

ब्याज में ये रतन दीन्हे कृपा गोप-कुमारि।

सालोक्या सामीपता सारूपता, भुज धारि ॥

पर—इक रही सायुज्यता सो, सिद्ध नहीं बिनु ज्ञान।

॥३४३१॥४०४१

यह समस्त प्रसंग है गूढ़ प्रयोजन का। किन्तु समस्त प्रसंग ध्वनि गर्भित है—जिसका अभिप्राय केवल एक है कि उद्धव में कृष्ण के प्रति प्रेम पैदा हो जाय। किन्तु यह अर्थ इससे भी आगे जाता है। इसका विशेष कथन उद्धव के लिए तो आवश्यक है, पर सामान्य कथन जैसे किसी भी ज्ञानवादी पात्र का साकार कृष्ण के प्रेम की ओर प्रेरित करनेवाला है। किन्तु 'उद्धवदौत्य' में कथानक गर्भित एक अन्य अभिप्राय भी है। इस गीत-काव्य का विरल कथानक भूमिका की भाँति प्रत्येक पद के पीछे है। सूरदास कृष्ण के 'संयोग' वर्णन को अतिशय पर पहुँचा चुके हैं। उसी अतिशय पर संयोग-सूत्र छिन्न हो जाता है। संयोग का स्थान वियोग ग्रहण कर लेता है। यों शृंगार (अथवा भक्ति) रस को परिपूर्णता के लिए भी संयोग के साथ वियोग का वर्णन आवश्यक होता है, क्योंकि प्रेम का स्वरूप बिना दोनों के पूर्णतः स्फुट नहीं होता। 'संयोग' अत्यन्त स्थूल पक्ष है—वह द्वैत पक्ष है, उसमें प्रेम विलास के पंक से मुक्त रहता है—वह भोग है। वियोग उसी का सूक्ष्म पक्ष है—वह अद्वैत है, उसमें निर्मल निष्ठा है वह त्याग का उच्च तम स्वरूप है। सूरदासजी के सूरसागर का प्रकृत विषय है कृष्ण गोपी प्रेम। माध्यमिकता से हीन प्रेम। कृष्ण और गोपी का प्रेम साक्षात् प्रेम है—न इसमें चित्र दर्शन है, न गुण-कथन कहनेवाला कोई पात्र है। एक दूसरे को प्रत्यक्ष देखते हैं प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इसी स्थिति के कारण सूरदास के वल्लभ सम्प्रदाय में 'गुरु' का निषेध करके 'गुरु' की स्थापना की गयी है। गुरु गुरु नहीं वह स्वयं कृष्ण है—तो साकार कृष्ण का साक्षात् संयोग गोपिकाओं को मिला—समस्त प्रेम की स्थितियों में होकर वह संयोग विकसित

होकर चरम पर पहुँच गया—किन्तु 'साकार' कृष्ण चले गये। अब कथाकार के सामने प्रेम की प्रवृत्ति से भिन्न भी यह प्रश्न पैदा हुआ कि 'अब कृष्ण का क्या होगा ?'

इसका अभिप्राय यह है—

१ क्या कृष्ण की साकारता अब भी रही ?

२ क्या उनकी साकारता का स्थान निराकारता ले सकती है ?

३ गोपियाँ अब कृष्ण को क्यों प्रेम करें ?

४ यदि वे अब भी कृष्ण से प्रेम करती हैं, तो जीवित किस आधार पर रह सकती हैं ?

इन समस्त प्रश्नों का समाधान भ्रमरगीत में सूर ने प्रस्तुत किया, पर कथानक की मूल प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित था कि, एक तो, उस संयोग विच्छिन्न प्रेम को उद्दीपन मिले। दूसरे यह उद्दीपन ऐसा प्रबल हो कि गोपियों की अपनी स्थिति या तो अत्यन्त दृढ़ हो जाय या अत्यन्त शिथिल। बिना इसके कथा-सूत्र का सम्भाव परिपूर्णता ग्रहण नहीं कर सकता। उद्धव का दौत्य कथानक की दृष्टि से इस उपयोग के लिए भी है।

इस प्रकार उद्धव को न तो ठीक अर्थों में 'दूत' माना जा सकता है, न इस काव्य को 'दूत-काव्य'।

किन्तु इससे भी आगे यदि देखें तो विदित होता है कि कृष्ण की दृष्टि से भले ही उद्धव को दूत न माना जा सके, पर गोपियों की दृष्टि से तो वह दूत-कोटि में आ ही सकते हैं। 'मेघदूत' के द्वारा कालिदास ने यह स्थापित कर दिया है कि दूत-काव्य के लिए यह अपेक्षित नहीं कि उसमें कोई दूत सन्देश लेकर प्रियतमा अथवा प्रियतम के पास जा ही पहुँचे। नायिका अथवा नायक यदि किसी को सन्देशवाहन के योग्य मानकर उसे अपना सन्देश दे देते हैं, तो भी एसा काव्य दूत-काव्य माना जायगा। इस दृष्टि से गोपियाँ उद्धव को अपना सन्देश देती हैं जैसे—

ऊधौ इतनी कहियौ बात

+ + + +

लागौ बेगि गुहारि सूर प्रभु गोकुल बैरिन घात ।४०९१।
४६८७

तथा

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ

मति हम गात भई ये तुम बिनु परम दुखारी माइ ॥४०७०॥
४६८८

तथा

तुम कहियो जैसे गोकुल आवैं ॥४०७१॥४६८९

तथा

ऊधौ कहियौ यह सन्देश

ये सभी यथार्थत सन्देश हैं जिन्हें गोपियाँ कृष्ण के पास उद्धव द्वारा भेज रही हैं। किन्तु वस्तुत ये प्रति-सन्देश हैं। यद्यपि उद्धव को हम कृष्ण के दूतत्व में विफल देखते हैं। उद्धव स्वयं कहते हैं—

हारि मानि उठि चल्यौ दीन ह्वै मानि अपुन तन खेद
॥४१२८॥४७४६

इसी पद में आये—

अपनी चाल जानि मन-ही-मन, चल्यो असीठी तोरि

क्योंकि वह गोपियों से अपनी बात कह नहीं पाते। वह एक बात कहते हैं तब तक गोपियों की बातों की बाढ़ आती है और उद्धव की बात उसमें बह जाती है। उद्धव कहते हैं—

हौं मरि एक कहौं पहुरन मैं, वे पल माहिं अनेक
हारि मानि उठि चल्यौ दीन ह्वै छांड़ि आपनी टेक
॥४१३०॥४७४८

तुम जो कही ज्ञान की गाथा, पानी ह्वै मु बही
॥४१३१॥४७४९

हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू में अटकाऊं।
वे उमड़ें वारिधि के जल ज्यौं क्यौंहू थाह न पाऊं
॥४१२६॥४७४४

ऐसे उद्गार बार-बार कृष्ण से उद्धव ने कहकर अपनी दीनता और अपने सन्देश की दीनता सिद्ध की है। किन्तु दूसरी ओर वे कृष्ण से गोपियों की बातें कहते नहीं अघाते। इससे यह प्रकट होता है कि वह कृष्ण के दूत के रूप में भले ही असफल रहे हों पर,

गोपियों का दूतत्व तो उन्होंने भलीभाँति कर ही दिया। तो फिर प्रति-सन्देश के नाते ही सही, उन्हें गोपियों का दूत माना जा सकता है। गोपियों ने, यशोदा ने, ब्रजबासियों ने उद्धव द्वारा अपने सन्देश कृष्ण के पास भिजवाये हैं। तो फिर उद्धव को दूत तो मानना ही चाहिए, पर गोपियों का अर्थात् ब्रजबासियों का।

किन्तु विदित होता है कि यह स्थिति भी ठीक नहीं। इसके लिए ये कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१ दूत रति की वर्तमान स्थिति को नायक अथवा नायिका के पक्ष में प्रगतिवान करता है। गोपियों का सन्देश कृष्ण में कोई विशेष प्रगति पैदा नहीं करता। उस सन्देश का दोनों ओर से कोई परिणाम उन दोनों पक्षों के लिए नहीं।

२ दूत नायक अथवा नायिका का सन्देश मात्र वहन करता है स्वयं अपना व्यक्तित्व विलीन नहीं कर देता। यहाँ उद्धव वस्तुतः गोपियों का सन्देश कृष्ण को नहीं सुना रहे, वरन् अपनी परिणति की ही बात कह रहे हैं, निर्गुण की वाणी-हीनता का उल्लेख कर रहे हैं, और गोपियों के प्रेम-सागर का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

३ दूतत्व में नायक-नायिका के पक्ष को ही दृष्टि में रखा जाता है, वह इन दो छोरों के मिलान का ही कार्य सम्पादन करता है उससे बाहर जाकर वह कोई सामान्य भूमि नहीं प्राप्त करता। इस दूतत्व में नायक-नायिका का पक्ष गौण है 'दूत' की परिणति तथा दूत के अहंकार के आधार 'निर्गुण' की निष्कृति ही उसका अभीष्ट है—इससे भी आगे गोपियों के प्रेम की आध्यात्मिक महत्ता ही इससे प्रकट होती है[1]।

---

1 यह बात स्पष्ट है कि यों तो कृष्ण ने उद्धव को स्वयं प्रेम का सन्देश देने में अपनी असमर्थता प्रकट की है। पर असमर्थता में एक भाव तो यह है ही कि प्रेम एक भाव है जो बौद्धिक साधन से नहीं जाना जा सकता, उसकी तो अनुभूति ही हो सकती है। किन्तु यह भी कारण था कि अपने प्रति प्रेम का वहन कृष्ण अपने माध्यम से नहीं करा सकते थे। उद्धव में गोपी-भाव तो गोपियों के साथ ही पैदा हो सकता था

४ फलतः उद्धव में दौत्य-कर्म न तो कृष्ण की ओर से स्फुट होता है न गोपियों की ओर से।

यह दौत्य केवल पृष्ठभूमि का कार्य करता है। यह बात भी यहाँ स्मरण रखनी उचित है कि इस समस्त प्रसंग को 'भ्रमर गीत' का नाम दिया जाता रहा है। यह नामकरण हमारी दृष्टि से उद्धव को भी ओझल कर देता है। हमारे समक्ष रह जाता है केवल 'भ्रमर' और 'भ्रमर' में उद्धव का तादात्म्य—

'ऊधौ जो मन होत बियौ। इस पद में उद्धव को सम्बोधन करते हुए, उन्हें ही दूसरे सम्बोधन में गोपियाँ कहती हैं—

अब वा रूप रासि बिनु मधुकर, कैसैं धरत जियौ ॥३७२७॥
४३४५

इसी प्रकार अन्य कितने ही पदों में यह स्थिति मिलती है। यह स्थिति न तो द्वैत की है कि एक बार उद्धव को सम्बोधन किया जा रहा है, और दूसरी बार भ्रमर को। न भ्रम की है कि उद्धव से कहते-कहते भूल से भ्रमर से कहने लगीं। यह वस्तुतः तादात्म्य ही है। यह तादात्म्य भ्रमर का उद्धव में ही नहीं उद्धव के आगे कृष्ण में भी है। फलतः गोपियों के मानस के समक्ष तीन व्यक्तित्व हैं—

१ कृष्ण

२ भ्रमर—मधुकर

३ उद्धव

इन तीनों व्यक्तियों का गोपियों की आध्यात्मिक उपलब्धि में विशेष महत्व है। जिसे नीचे की सारिणी स्पष्ट करती है

कृष्ण=स्थिति=ब्रह्म

भ्रमर=गति=मन अथवा प्राण

उद्धव=वाणी=शरीर

सूरदास मन अति अनुरागी कहि कैसैं सुख पावत ॥३५०३॥
४१२१

अब समस्त काव्य की स्थिति यह है कि कृष्ण और गोपी अथवा ब्रह्म और उससे उद्भूत आत्माएँ कृष्ण के सम्पर्क से आध्यात्मिक प्रेम से अनुप्राणित हो उठती हैं। वे कृष्णमय हो गयीं

। तब कृष्ण उनसे विलग होकर उन्हें आध्यात्मिक विरह से युक्त कर देते हैं। यह विरह प्रेम का वह स्वरूप है जो साध्य से संयुक्त होते हुए भी साधनावस्था को प्रधानता देता है। यही गुरु का धर्म और मर्म है। गुरु साधनावस्था में होते हुए भी 'साध्य से अन्वित रहता है, सिद्ध होता है। गोपियाँ अब उसी स्थिति में हैं—वे उद्धव के 'व्यक्तित्व' के लिए गुरु हैं, साधन हैं। उस साधन से उद्धव में गति उत्पन्न होती है—यहीं भ्रमर का समावेश होता है। भामह के समय में सम्भवतः भ्रमर आदि को दूत के रूप में काव्य में स्थान देने की प्रणाली प्रचलित थी। तभी उसने 'काव्य अलंकार' में लिखा है—

अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः ।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः ॥४२॥
अवाचो व्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥४३॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥४४॥
———प्रथम परिच्छेद युक्तायुक्त विचार प्रकरण

जलभृ ग, मारुत, भ्रमर, हारीत चक्रवाक, शुक आदि को दूत बनाना अयुक्त है। सूर ने उद्धव के साथ भ्रमर को प्रस्तुत करके साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से 'उन्मत्तता' का स्वरूप भी दिखा दिया है। तब भ्रमर, जो माध्यम है कृष्ण और उद्धव दोनों से समन्वित हो जाता है।

कहियौ मधुप मधुर भाषी सौं तुमहू सखा कहावत ॥३६२४॥
४२४२

मधुप को कृष्ण का सखा बताया गया है।

तुम अलि कासौं कहत बनाइ ॥३६१७॥४२३५

अलि और उद्धव के तादात्म्य के तो अनेक पद मिलेंगे। निम्न पद में कृष्ण, ऊधौ और भ्रमर तीनों के तादात्म्य का स्पष्ट प्रतिपादन होता है—

मधुप तुम कहौ कहाँ तें आये हौ।
जानति हौं अनुमान आपने तुम जदुनाथ पठाए हौ।

वैसेइ बसन, बरन तन सुन्दर, वेइ भूषन सजि लाए हो ।
लै सरबसु संग स्याम सिधारे, अबका पर पहिरामे हो ।

जिससे साधन और साध्य का समीकरण होता दिखायी पड़ता है—यही समीकरण मिलकर उद्धव के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। फलतः उद्धव का दूतत्व नहीं रह जाता, न कृष्ण का सन्देश रह जाता है, न गोपियों का सन्देश ही कोई अर्थ रखता है। उद्धव और भ्रमर नेत्रों के सामने हैं—वह प्रत्यक्ष कोटि में हैं। कृष्ण अप्रत्यक्ष कोटि में हैं, वह यहाँ उद्धव और भ्रमर के माध्यम से उपस्थित हुए हैं। उद्धव और भ्रमर के व्यक्तित्वों में धूप छाँह का-सा ताना-बाना है, जिससे मिल कर एक ही वस्त्र बनता है। सम्भवतः 'उद्धव और भ्रमर' दोनों तत्त्वों से ही अव्यक्त कृष्ण के समस्त रूप का दर्शन होता है। इस स्तर पर पहुँच कर 'उद्धव' और 'भ्रमर' भी अपना महत्त्व खोने लगते हैं—'कृष्ण' ही उनमें से व्यक्त हो उठते हैं—और गोपियाँ वैदिक ऋचाओं की वाणी में कृष्ण की वन्दना करने लगती हैं।

बृहद्देवता में, मन्त्र के जितने प्रकार हो सकते हैं उनका उल्लेख हुआ है—'मन्त्रा नाना प्रकारा स्युरदृष्टा य म न्मदर्शिभि' और उन नाना प्रकारों को इस प्रकार बताया गया है—

स्तुति प्रशंसा निन्दा च संशय परिदेवना ।
स्पृहाशी कल्पना याँचा प्रश्न प्रेष प्रह्लिका ।
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपित च यत् ।
आचिख्याप च संलाप पविनाख्यानमेव च ।।
आहुतस्य नमस्कार प्रतिरोधस्तथैव च
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च ।
प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवो च ह ।
उपप्रैषश्च य प्रोक्त सज्वरो यश्च विस्मय
आक्रोशो मिथ्याशपैश क्षेप शापस्तथैव च
उपसर्गो निपातश्च नाम चास्याठमित्यपि ।।६१।।

गोपियों ने 'उद्धव और मधुकर' के द्वारा कृष्ण के समक्ष यही वैदिक प्रणाली की वाणी के मन्त्र-रूप पद अर्पित किये हैं।

इस युक्ति से गोपियों ने जहाँ ऋचाभाव से अपनी वाणी का समस्त सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है वहाँ उद्धव और भ्रमर का उसी वाणी के माध्यम से उच्छिन्न कर दिया है। शरीर को

वाणी और मन की चंचलता को प्रेम के तरंगित सागर के पास ले जाकर उसकी विकारहीन गहराई और अनन्तता में डुबा दिया है। उद्धव भ्रमर तो परास्त होकर ब्रज में ही रह गया। उद्धव की वाणी गोपियों की वाणी होकर प्रेम की दिग्विजय घोषित करती कृष्ण की शरण में पहुँच गयी। गोपियों के इस प्रेम के समक्ष कृष्ण, उनकी साकारता उन्हीं के साथ ज्ञान, योग सभी महत्वहीन हो गये हैं। गोपियाँ कृष्ण की उपेक्षा करते हुए उनके प्रेम-रूप को प्रेम-रूप में ग्रहण कर तन्मय हो गयी हैं। राधा-कृष्ण में साकार अभेद हो गया है—यह भक्ति का सायुज्य गोपियों को उपलब्ध हुआ है।

- २५ -

सूर का काव्य

सूर के काव्य को हृदयगम करने के लिए पहले तो यह बात समझ लेनी है कि निर्मायक तत्वों में निम्नलिखित बातें विद्यमान मिलती हैं —

१ भारतीय सांस्कृतिक मानस के उपादान। भारतीय मानस के सांस्कृतिक उपादानों में वे विश्वास और मान्यताएं गृहीत होंगी जिनमें वैदिक और पौराणिक और दार्शनिक तत्व सन्निहित हैं।

२ भारतीय मेधा का मनोवैज्ञानिक, प्रातिभ तत्व। इसके अन्तर्गत भारतीय सांस्कृतिक उपादानों के आधार पर जो भी। व्यक्तिगत प्रतिभा अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है-वह इसमें सम्मिलित होगा।

३ लोक-मेधा—इसमें वे तत्व आयेंगे जो तत्व कि लोक के आदिम विश्वासों के परम्परा प्राप्त रूपों, विश्वासों और मान्यताओं को लिये हुए हैं। इस प्रकार भारतीय मानस म जो आदिम तत्व विद्यमान हैं, उनसे सहज सम्बन्ध स्थापित हो सके।

४ जनवाणी—जिस युग में कवि हुआ है, उस युग के जन की अभिव्यक्ति हुई हो।

५ साम्प्रदायिक तत्व—सूरदासजी जिस युग में हुए वह साम्प्रदायिक आंदोलनों का था और उन्होंने एक सम्प्रदाय का आश्रय गृहण भी किया था, यह सर्वविदित है।

६ सार्वजनीन सामान्य तत्वों का समावेश—इनमें वे सब तत्व आयेंगे जिनमें भूगोल और इतिहास और सांस्कृतिक परि-सीमाओं से ऊपर उठकर जन और मानव में व्याप्त सामान्य तत्वों की अभिव्यक्ति हो।

७ सार्वजनीन मानस की प्रातिम अभिव्यक्ति—भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिसीमाओं से ऊपर उठकर सार्वजनीन मानस की ऐसी अभिव्यक्ति जोकि विश्व की श्रेष्ठतम मेधाओं को भी संतोष प्रदान कर सके।

८ साहित्य और कला के स्तर की स्वीकृति और

९ मानवीय अध्यात्म की अनुभूति जो साम्प्रदायिक अध्यात्म से भिन्न होती है और शुद्ध मानवीय स्तर पर खड़ी होती है।

सूर की वाणी में इन नौ तत्वों का ऐसा पावन संयोजन हुआ है कि उनकी कला को एक वैशिष्ट्य मिल सका है जो हर किसी महान् कवि को साधारणतः प्राप्त नहीं होता। जब हम सूर के काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो पहले हमें भारतीय सांस्कृतिक उपादान आकर्षित करते हैं। इन भारतीय सांस्कृतिक उपादानों में हमें स्पष्ट रूप से तीन सीढ़ियाँ परिलक्षित होती हैं। एक—सांस्कृतिक उपादान की सामान्य भावभूमि। कृष्ण का कथानक भारतीय सांस्कृतिक उपादानों की दृष्टि से मात्र एक सामान्य कथानक है जिससे भारत का प्रत्येक जन भली प्रकार परिचित है। तो, सूरदास जब कृष्ण को लेकर खड़े होते हैं तो भारतीय सांस्कृतिक मानस का सामान्य स्तर स्वयमेव प्रस्तुत हो जाता है और सामान्य भारतीय को सूर के काव्य में इसीलिए आनन्द की प्रेरणा प्राप्त हो जाती है कि वह कृष्ण से सम्बन्धित है।

मैया मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी

ऐसे शब्द कान में पड़ते ही सामान्य भारतीय का सांस्कृतिक मानस इन शब्दों के सामान्य अर्थ से उल्लसित नहीं होता, वह उल्लसित होता है इसलिए कि उसके कृष्ण अपनी माँ यशोदा से कह रहे हैं कि 'मैया मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी'। कृष्ण के विषय में उसकी जो सामान्य सांस्कृतिक धारणा है वह सांस्कृतिक उत्तराधिकार के कारण बहुत ही 'सबलाइम' अथवा भव्य है और जब वह उस भव्य कृष्ण को सामान्यातिसामान्य बालक की तरह माँ से चोटी के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए सुनता है तो एक विद्रूपता सी दिखायी पड़ती है। वह आश्चर्य के साथ ही सबलाइम से रिडीक्यूलस के भाव से अवाक होते-होते भव्य के उस कौतुक से आनन्द विभोर हो उठता है क्योंकि वह भव्य केवल कृष्ण नहीं वह उसका निर्माता

ात्मक और सहृर्दा भी है। यह जब इस प्रकार माँ से बात करता
[तो श्रोता उसी दैवी आनन्द से आनन्दविभोर हो जाता है।
ाह मध्य से विरूप में अवतरण का स्पष्ट उल्लेख तटस्थ भाव से
हमें कितने ही स्थलों पर बलदाऊ करते दिखायी पड़ते हैं। जब
े 'हाऊ' से कृष्ण को भयभीत देखकर हँसते हुए कहते हैं —

जब डरपत सुनि-सुनि ये बातें, कहत हँसत बलदाऊ,
सप्त रसातल सेषासन रहे, तबकी सुरति भुलाऊ।
चारि वेद लै गयौ सखासुर जल में रह्यौ लुकाऊ,
मीन रूप धरि कै जब मार्यौ, तबहिं रहे कहँ हाऊ।
(२२१। ८३६—)

यह आश्चर्य बलदेव का नहीं सूरदास का ही है। स्वयं सूर
कहते हैं—

देखो अद्भुत अबगति की गति
कैसो रूप धर्यौ ऐ (हो) तीन लोक जाके उदर भवन।
सो सूप के कौन पर्यौ ऐ (हो)

.. ..

जाको ध्यान न पायौ सुरमुनि संभु समाधि न टारी (हो)
सोई सूर प्रगटि या ब्रज में गोकुल गोप बिहारी (हा)
(१२८ ७४६)

ऐसे आश्चर्य-भावान्वित पद सूरदास में पग-पग पर विद्यमान
हैं जिससे सामान्य सांस्कृतिक मानस की सामान्य पृष्ठभूमि प्रत्येक
पद के साथ ही विद्यमान प्रतीत होती है। इसी भारतीय सांस्कृ
तिक मेधा की दूसरी सीढ़ी पौराणिकता है। भारतीय संस्कृति
पौराणिक कथाओं के ताने-बाने से ओतप्रोत है। और जब तक ये
पौराणिक तन्तु किसी न किसी रूप में प्रस्तुत न हों, भारतीय मेधा
का सन्तोष नहीं हो सकता। सूरदास ने अपने पदों में इस पौरा
णिकता का भी पूरा आदर किया है। इस पौराणिक तत्व के
समावेश से उनकी कला को एक विशेष चमत्कार भी प्राप्त हो
सका है। कृष्ण का लौकिक वर्णन करते-करते वे उनके विष्णुत्व
की ओर संकेत करने लग जाते हैं और विष्णु-पराक्रम के द्वारा वे

भारतीय सांस्कृतिक मेधा की पौराणिकता को प्रसन्न और आह्लादित कर देते हैं। ऊपर कला के मर्म में इस विष्णुत्व की झांकी से जो प्रभाव और शैली वैशिष्ट्य अथवा कथन की विशेषता का अद्भुत गुण उपलब्ध हुआ है उस पर विचार किया जा चुका है। इस भारतीय सांस्कृतिक मेधा का तीसरा स्तर सामान्य सांस्कृतिक दार्शनिकता है। इस सामान्य सांस्कृतिक दार्शनिकता का अभिप्राय यह है कि कृष्ण अथवा विष्णु जीवन की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिससे भारतीय जन मन एक बौद्धिक आनन्द भी प्राप्त करता है। इसलिए कि वह यह मानता है कि कर्ता धर्ता, हर्ता की उपलब्धि उन्हें इन काव्य प्रस्तुतियों से उसी प्रकार हो रही है जिस प्रकार यशोदा को कृष्ण की उपलब्धि से हुई थी। प्रत्येक पद इन तीनों सांस्कृतिक सीढ़ियों को समीकृत किये रहता है। कहीं स्फुट, कहीं अस्फुट कहीं वाच्यार्थ से कहीं लक्ष्यार्थ से, कहीं व्यंग्यार्थ से। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति से सम्पन्न किसी भी कोटि की मेधा हो, वह सूर के पदों में अपने अनुकूल सामग्री और उसमें आनन्द का तत्व प्राप्त करती है क्योंकि सभी तत्व कृष्ण की ओर प्रभावित हैं जो आनन्द का उत्स है और उसको कवि ने ऐसे सामान्य और विशिष्ट भारतीय सांस्कृतिक मानस के अनुकूल वाणी में प्रस्तुत किया है।

भारतीय मेधा के मनोवैज्ञानिक प्रातिभ तत्व—

इन सांस्कृतिक उपादानों को ही सूरदास ने कलात्मक थाली में अन्वित नहीं किया उसने भारतीय मेधा और भारतीय प्रतिभा को अपनी कला के द्वारा प्रस्तुत किया है। भारतीय प्रतिभा क्या है? समस्त भारतीय मानसिक संस्थान कोषों में विश्वास करता है और उन कोषों के अनुकूल ही वह मनोविज्ञान का संस्थान खड़ा करता है। प्रत्येक कोष का मानसिक संस्थान से कैसा और क्या सम्बन्ध है इसको यहां दिखाने का अवकाश नहीं।[1] किन्तु भारतीय प्रतिभा का यह एक वैशिष्ट्य है जिसको उचित महत्व मिलना चाहिए। सूरदासजी अपनी प्रतिभा से इस भारतीय प्रतिभा को प्रस्तुत करते दिखायी पड़ते हैं। उनके समग्र काव्य में हमें अन्नमय

---

[1] इसको ठीक-ठीक समझने के लिए लेखक की 'कला, कल्पना और साहित्य' नामक पुस्तक में से अन्नमय विषयक निबन्ध पढ़ लेने चाहिये।

कोप, प्राणमय कोप, मनोमय कोप विज्ञानमय कोप और आनन्द मय कोप की विविध वैज्ञानिक स्थितियों के दर्शन होते हैं। कृष्ण के जन्म सस्कारों में अन्नमय कोप का स्थूल, भव्य किन्तु प्रतिमा पूर्ण चित्रण है। जहाँ एक ओर उसमें हमें जन्म के समस्त सस्कारों का उल्लेख मिलता है और दूसरी ओर सांस्कृतिक उपादानों की तीनों पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है वहीं कायिक सौन्दर्य और कायिक क्रियाओं और कायिक मनोविज्ञान का सयोजन भी मिलता है। बाल मनोविज्ञान का जैसा रूप सूर में है वैसा क्या अन्यत्र सुलभ है। यह सब अन्नमय कोप की सामग्री है जिसे कवि ने उसके समस्त मनोविज्ञान के साथ प्रस्तुत कर दिया है। तब उसके प्राणमय कोप के दर्शन हमें होते हैं। बाल्यावस्था को पार कर किशोर अवस्था में पदार्पण करने पर कृष्ण की जो क्रीड़ाएँ दिख लायी पड़ने लगती हैं वे कितनी प्राणवान हैं। उनकी वास्तविक व्याख्या और उनके वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार प्राणतत्व के सौन्दर्य का साक्षात्कार है। प्राणतत्व ही लीलाकर है। और कृष्ण की समस्त लीलाएँ इसी प्राणतत्व से समन्वित और उद्भूत हैं। प्राणतत्व से अन्नमय कोप में जो मनोविज्ञान प्रस्तुत होता है वह इन लीलाओं में सूर ने व्याप्त कर दिया है और जब इन लीलाओं से ऊपर उठ कर कृष्ण काम भाव समन्वित होते हैं, गोपी और राधा जब नारी तत्व का रूप ग्रहण कर लेती है और जब स्वयं कृष्ण में यह जिज्ञासा पैदा हो जाती है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी

तब जैसे प्रपञ्च के विस्तार में से शिव स्वयं ही अपनी सिसृक्षा लीन शक्ति को देखकर उससे पूछते हैं—'बूझत स्याम कौन तू गोरी'। और तब इसी पद की उन दो बातों पर ध्यान जाता है जब राधा के रूप में जैसे शक्ति कहती हो—

काहे को हम ब्रज तन आवत, खेलत रहत आपनी पौरी।
सुनत रहत स्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।

सूर ने एक ओर कृष्ण को तात्विक मूल शिवत्व से संयुक्त करके यहाँ खड़ा कर दिया है। कृष्ण मक्खन और दही चुराते हैं। मक्खन और दही क्या है? गोपियों के परिश्रम का परिणाम और गोपियाँ? यों साम्प्रदायिक व्याख्या से इन्हें ऋचाएँ कहा जा

सकता है किन्तु राधा ने आकर उन गोपियों को कुछ और ही महत्व प्रदान कर दिया है। राधा जैसे मूल शक्ति है और गोपियाँ जैसे उसी शक्ति की सिसृक्षाधीन विकृति हैं। शक्ति ने जो सृष्टि खड़ी की है उसके माखन और दही को, उसके समस्त आनन्द को अपहृत कर लेते हैं शिव या कृष्ण, और कृष्ण ब्रज में यही काम करते हैं, और तभी इन पंक्तियों पर ध्यान जाता है—

तुम्हरो कहा चारि हम लै हैं

क्या यह ठीक नहीं है ? भला शक्ति का ऐसा क्या है जो शिव के द्वारा चुराया जा सके। शिव का ही तो एक तत्व शक्ति है। अभिप्राय यह है कि यहाँ इस काम की भूमि पर पहुँच कर राधातत्व और गोपी तत्व से समन्वित होते ही प्राणमय कोष की लीलाएँ ज्ञानमय कोष की प्रक्रिया में परिणति पाने लगती हैं और संयोग की समस्त स्थिति इसी ज्ञानमय कोष की मनोवैज्ञानिकता (यदि उसे मनोवैज्ञानिकता कहा जा सके) तो उसे प्रकट करती है। क्योंकि इस ज्ञानमय कोष के स्तर पर पहुँच कर भाव का इतना गहरा अन्नमय विश्राम साथ में आता है कि ज्ञानमय कोष के यथार्थ मनोविज्ञान विषयकतत्व सहज ही दृष्टि पथ में नहीं आ सकते। मनोविज्ञान ही नहीं मनोविश्लेषण से भी ऊपर की स्थिति से उसका सम्बन्ध है जिसे भारतीय मेधा ही अनुभव कर सकी है।

संयोग के बाद वियोग की स्थिति में विज्ञानमय कोष का तत्व प्रस्तुत हो जाता है। कृष्ण अब साकार रूप में गोपियों और राधा के समक्ष नहीं हैं। अब उनकी उपलब्धि शरीर प्राण और मन से नहीं हो सकती। यह उपलब्धि तो अब विज्ञानमय कोष से ही सम्भव है। इस विज्ञानमय कोष में ही वे तत्व होते हैं जो मनोपरि अनुभूति से संबद्ध हैं। अनुभूति की दो शिरायें हैं एक संपर्की दूसरी आनन्दी। सपर्की शिरा विज्ञानमय कोष से युक्त है। यहाँ वह औहट हाट है जहाँ योगी अपना आसन जमाता है और जिसका उल्लेख कबीर ने अनेक बार किया है, जहाँ पर चौराहा है और जहाँ से नीचे जाने का भी मार्ग है और ऊपर चढ़ने का भी। यहाँ बुद्धि-व्यापार रुक जाता है क्योंकि बुद्धि का शरीर प्राण और मन से बाहर क्षेत्र नहीं हो सकता। योगी जिस स्थिति को विविध यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त करता है वह भक्त को

गोपी भाव की वियोग-उपलब्धि से प्राप्त हो जाती है। इसीलिए समस्त वियोग की उपलब्धि विज्ञानमय कोष के अनुभूति तत्वों से सूरदास ने प्रस्तुत की है। विज्ञानमय कोष का स्पर्श करते समय कवि के भाव की भूमि दुविधा के स्तर पर पहुँचती है कि अब क्या अनुभूति हो सकती है। जब साकार कृष्ण नहीं तो क्या उनका निराकार रूप ग्राह्य हो सकता है ? अथवा साकार के द्वारा ही इस विज्ञानमय कोष की स्थिति प्रस्तुत हो सकती है ? इसी दुविधा को दूर करने के लिए 'भ्रमरगीत' की उद्भावना हुई। 'भ्रमरगीत' में कवि ने सोचा कि क्यों न गोपियों को निराकार का ही अवलम्ब दिया जाय। किन्तु देखा गया कि ऊर्ध्वगामी गोपी भाव निराकार को एक दम त्याग देता है उसकी भर्त्सना भी करता है और साकार की विज्ञानमय स्थिति से उद्भूत भक्त्यानुभूति के प्रबल वेग में वह निराकार की बौद्धिक क्रिया बह जाती है अर्थात् विज्ञानमय कोष का सम्पर्क छोर मन के सम्पर्क से विलग हो जाता है। और तब वियोग समाप्त और गोपियों का आनन्द कोष उभर पड़ता है जिसका चरम वहाँ पहुँचता है जहाँ राधा 'हरि' बन जाती है। साकार का साकार में यह सायुज्य भक्ति के सायुज्य का सुन्दर काव्यमय प्रतीक है जिससे महत् स्थिति की कल्पना सत्य का साकार और साकार को सत्य मानने वाली दृष्टि कोष में नहीं हो सकती। सूरदास के काव्य में इन पंच कोषों का जो संयोजन प्रस्तुत हुआ है वह काव्य की समग्र कथावस्तु के पर्यवसान से ही प्रकट नहीं होता वरन यह जैसे प्रत्येक शरीर में पाँचों कोषों की स्थिति है उसी प्रकार अभिधा लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य और अनुभूति इन पाँचों सीढ़ियों से प्रत्येक पद में परिपूर्ण दिखायी पड़ता है जिसे कोई भी समर्थ वाणी का उपासक देख सकता है। यह कवि की भारतीय मेधा का प्रातिभ स्वरूप सूरसागर में प्रस्तुत हुआ है। कोई भी सहृदय इसमें कवि के कौशल पर उतना मुग्ध नहीं होगा जितना इस समस्त कोष समुदाय की काव्यगत रसमय सर्यूति के सौन्दर्य से। यह तो हमने व्याख्या की दृष्टि से ऐसे वैज्ञानिक धारणों का प्रयोग किया है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि 'सूर' के काव्य के पद-पद में आनन्द-प्राप्ति और निरन्तर उसकी वृद्धि से उपलब्ध होती हुई आध्यात्मिकता किसी भी अनुभवी के लिए इसका प्रमाण है।

लोक मेधा—

कवि ने इन उच्चस्तरीय तत्वों को ही अपनी प्रतिमा की सामर्थ्य से गुम्फित नहीं किया, उसने इस सस्कारी मानस और उस मानस की प्रतिमा के हृदय में लोक-मेधा का उन्मेष भी रखा है। सूरसागर की जनवाणी शीर्षक अध्याय में हम सूर-काव्य के जन वाणी रूप की किंचित झांकी पा चुके हैं। किन्तु इस समस्त काव्य के हृदय में पठ कर हमें जो मूल स्रोत दिखायी पड़ता ह वह ही मूल स्रोत है जोकि मनुष्य की सहज और आदिमवृत्ति से संबंधित है। भक्ति-तत्व स्वय ही लोक-मेधा का तत्व है और उस तत्व का सयोग कथा-तत्व से सूर ने करने की चष्टा की ह। कथावृत्ति भी मौलिक लोक-वृत्ति है। फलत हृदय का भाव और कथा पद-पद पर सूर के काव्य को पोषित किये हुए ह। सूर म इसी कारण लोक-मानस की अनुकूलता निरन्तर बनाये रखी है। गोप और गोपियों की जितनी भी युक्तियां और तर्क हैं, उन सब में चेष्टा पूर्वक मनीषी तत्वों का निवारण किया है। यह बात 'भ्रमरगीत' में सिद्धान्तत भी स्पष्ट हो जाती है —

१ समुझि न परै तिहारी मधुकर, हम ब्रज नारि गँवारि
(मा० प्र० ३६०६, ४५२७)

२ मधुमनि कौं तुम जोग सिखावत, कहत नहीं पछतात
(३६२२ और ४५४०)

३ हम अवधि बहु जोग जानें, समय हमसौं नेहु
(३६२३, ४५४१)

४ अवला सार ज्ञान कह जानें, कसे ध्यान धराहीं

५ मधुकर निर्गुन ज्ञान तिहारो,
हम अबला मति की सब भोरी, सहज गुपाल उपासी
(३६२६, ४५४४)

६ अति अगाध श्रुति वचन अगोचर
मनसा तहाँ न जाई।

(३६३१, ४५४९)

थारि ।

और यही कारण है कि अनेकों प्रकार की लीलाओं में यह मानस यहीं लोकमानस व्याप्त दिखायी पड़ता है। और यही कारण है कि सूर के पदों में लोक-गीतों का भी स्वर गूंजता दिखायी पड़ता है।

जनवाणी—

सूर के काव्य की जनवाणी के विषय में कुछ चर्चा ऊपर एक निबन्ध में हो चुकी है। यहाँ हमें इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि सूर की प्रतिभा ने मुनिमानस, लोकमानस और जनमानस को अपने काव्य में अद्वैत भाव से प्रस्तुत कर दिया है। इससे सूर के काव्य में मानस की समस्त विस्तृतियाँ समा गयी हैं और उनका काव्य सामान्य और विशिष्ट के वैषम्य की सहज समन्विति के अद्भुत सौन्दर्य को उद्भावित करता है। संस्कारी मानस का बोझिल ज्ञान-समृद्ध उपादान लोक-मेधा से आवृत होकर जनवाणी में मुखर हुआ है। यही कारण है कि यह जनवाणी सूरदास का कण्ठ बन गयी है और उन सबके लिए भी जो सूरदास की भाँति शुद्धाद्वैत पक्ष से भक्ति के काव्य में आत्म-परिणति का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

साम्प्रदायिक तत्व—

और यहीं सूर में हमें एक और वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है। वह है—अपने काव्य में साम्प्रदायिक तत्व का समावेश। सूर का काव्य सम्भवतः आरम्भ में विनय-परक साहित्य था जिसमें भगवान से दीन होकर पापों के नाश करने और मुक्ति प्राप्त करने की याचना की गयी थी। इस प्रकार की विनयों की एक लम्बी परम्परा हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है। भगवान है और उसका जन है। जन नितान्त शक्तिहीन है माया और प्रपंचों में घिरा, अनेक तापों से तापित उसके उद्धार का एक मात्र मार्ग भगवान है। जन भगवान से दीनता पूर्वक ही अपनी बात कह कर मुक्ति और संकट-हरण की याचना कर सकता है। यह एक आस्तिक की सामान्य भावभूमि है जिसमें भक्त की अपनी भक्ति और दार्शनिक तात्त्विकता तथा आध्यात्मिक विश्वासों के आधार पर भावों में विविध प्रकार के रूपरंग भर जा सकते हैं और

लोक मेधा—

कवि ने इन उच्चस्तरीय तत्वों को ही अपनी प्रतिभा की सामर्थ्य से गुम्फित नहीं किया उसने इस सस्कारी मानस और उस मानस की प्रतिमा के हृदय में लोक-मेधा का उन्मेष भी रखा है। सूरसागर का जनवाणी शीर्षक अध्याय में हम सूर-काव्य के जन वाणी रूप की किंचित झाँकी पा चुके हैं। किन्तु इस समस्त काव्य के हृदय मे पैठ कर हमें जो मूल स्रोत दिखायी पड़ता है वह ही मूल स्रोत है जोकि मनुष्य की सहज और आदिमवृत्ति से सबंधित है। भक्ति-सत्व स्वय ही लोक-मेधा का तत्व है और उस तत्व का सयोग कथा-सत्व से सूर ने करने की चेष्टा की है। कथावृत्ति भी मौलिक लोक-वृत्ति है। फलत हृदय का भाव और कथा पद-पद पर सूर के काव्य को पोषित किये हुए है। सूर ने इसी कारण लोक-मानस की अनुकूलता निरन्तर बनाये रखी है। गोप और गोपियों की जितनी भी युक्तियां और तर्क हैं उन सब में चेष्टा पूर्वक मनीषी तत्वों का निवारण किया है। यह बात 'भ्रमरगीत' में सिद्धान्तत भी स्पष्ट हो जाती है —

१ समुझि न परै तिहारी मधुकर, हम ब्रज नारि गँवारि
(मा० प्र० ३९०९, ४५२७)

२ अबलनि कौं तुम जोग सिखावत, कहत नहीं पछतात
(३९२२ और ४५४०)

३ हम अबधि कह जोग जानें, समय हमसों लेहु
(३९२३, ४५४१)

४ अवला सार ज्ञान कह जानें, कैसे ध्यान धराहीं

५ मधुकर निर्गुन ज्ञान तिहारो,
हम अवला मति की सब भोरी, सहज गुपाल उपासी
(३९२६, ४५४४)

६ मति अगाध श्रुति वचन अगोचर
मनसा तहाँ न जाई।
(३९३१, ४५४९)

आदि ।

और यही कारण है कि अनेकों प्रकार की लीलाओं में वेद मानस नहीं लोकमानस व्याप्त दिखायी पड़ता है। और यही कारण है कि सूर के गीतों में लोक-गीतों का भी स्वर गूंजता दिखायी पड़ता है ।

जनवाणी—

सूर के काव्य की जनवाणी के विषय में कुछ चर्चा ऊपर एक निबन्ध में हो चुकी है । यहाँ हमें इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि सूर की प्रतिभा ने मुनिमानस, लोकमानस और जनमानस को अपने काव्य में अद्वैत भाव से प्रस्तुत कर दिया है। इससे सूर के काव्य में मानस की समस्त विस्तृतियाँ समा गयी हैं और उनका काव्य सामान्य और विशिष्ट के वैषम्य की सहज समन्विति के अद्भुत सौन्दर्य को उद्भावित करता है। संस्कारी मानस का बोझिल ज्ञान-समृद्ध उपादान लोक-मेधा से आवृत होकर जनवाणी में मुखर हुआ है । यही कारण है कि यह जनवाणी सूरदास का वेद बन गयी है और उन सबके लिए भी जो सूरदास की भाँति शुद्धाद्वैत पक्ष से भक्ति के काव्य में आत्म परिणति का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं ।

साम्प्रदायिक तत्त्व—

और यहीं सूर में हमें एक और वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है । वह है—अपने काव्य में साम्प्रदायिक तत्त्व का समावेश । सूर का काव्य सम्भवतः आरम्भ में विनय-परक साहित्य था जिसमें भगवान से दीन होकर पापों के नाश करने और मुक्ति प्राप्त करने की याचना की गयी थी । इस प्रकार की विनयों की एक लम्बी परम्परा हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है। भगवान है और उसका जन है। जन नितांत पतित-हीन है, माया और प्रपंचों में घिरा, अनेक तापों से तापित उसके उद्धार का एक मात्र मार्ग भगवान है। जन भगवान से दीनता पूर्वक ही अपनी बात कह कर मुक्ति और संकट-हरण की याचना कर सकता है । यह एक आस्तिक की सामान्य भावभूमि है जिसमें भक्त की अपनी भक्ति और दार्शनिक तात्त्विकता तथा आध्यात्मिक विश्वासों के आधार पर भावों में विविध प्रकार के रूपरंग भरे जा सकते हैं और

कवि के भावाधिकार के फलस्वरूप शक्ति में दुर्बल अथवा प्रबल हो सकते हैं। सूर ने जब तक ऐसे विनय के पदों की रचना की तब तक वे एक सामान्य अनुभूति से ही संयुक्त थे और उनके पदों में जो रस मिलता था वह भाव की शक्ति पर निर्भर नहीं था, कवि की उक्ति पर निर्भर था। किन्तु वल्लभाचार्यजी के सम्पर्क में आने पर कवि के जीवन-दर्शन में आमूल परिवर्तन हो गया। उसने साम्प्रदायिक स्वरूप को समझा। साम्प्रदायिक अध्ययन, उसकी प्राप्ति का मार्ग और सम्प्रदाय की मान्यताएँ सभी इस महाकवि को अनायास ही काव्यमय प्रतीत हुईं। यही कारण है कि वल्लभाचार्यजी द्वारा लीला का ध्येय बताये जाने पर, उनके काव्य ने अनायास ही नई दिशा ग्रहण कर ली। अब तक जो भगवान दूर बैठे हुए थे वे उनके बीच में आ उपस्थित हुए। अब भक्त और भगवान में कोई अन्तर नहीं रह गया। अत सूर में जहाँ ऊपर के समस्त स्तर मिलते हैं वहाँ यह साम्प्रदायिक स्तर भी मिलता है। कृष्ण वैष्णव ब्रह्म हैं। यह सूर को सम्प्रदाय ने दिया है। और इस साम्प्रदायिक ज्ञान ने उनकी काव्यकला में एक चलचित्रोपमता प्रस्तुत कर दी है। यह काव्य की एक नई टेकनीक अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से सूर में प्रस्तुत हुई है। कृष्ण की लीलाओं को कवि ने इस प्रकार लिखा है मानो वे ठीक उसके सामने घट रही हैं और मानो कवि उनका साक्षात द्रष्टा है। कृष्ण की लीलाओं के साक्षात दर्शन का यह विधान भी कवि को सांप्रदायिक सिद्धान्त से ही प्राप्त हुआ। वह कृष्ण का सखा है और वह सत्य है तो कृष्ण भी सत्य हैं। अत कृष्ण ने जब जो लीलाएँ की हैं वे सब उसे इच्छा करने पर साक्षात् दिखलायी पड़ सकती हैं। वह सखा ही नहीं अन्तरग लीलाओं के लिए सखी भी है। सम्प्रदाय के इस प्रदेय ने कृष्ण की अन्तरग लीलाओं का साक्षात्कार करने की दृष्टि भी सम्प्रदाय ने प्रदान की। सूरदास और वल्लभ सम्प्रदाय के समस्त अनुयायियों के लिए यह एक अत्यन्त सहज विश्वास की वस्तु थी और इसी लिए सूरदास और उनके परिकर के कवियों ने अपना समस्त जीवन अपनी और भगवान की लीलाओं के साक्षात्कार के प्रयत्न में ही व्यतीत कर दिया। यह दृष्टि जो सूरदास को मिली उससे कवि ने भगवान को यथार्थ रूप में चित्रित करने की चेष्टा की जिससे—

कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू

जिससे यह यथार्थ ही जो मायावादियों द्वारा मिथ्या समझा जाता था कृष्णत्व और ब्रह्मत्व से ओतप्रोत हो उठा। यही नहीं कि सूरदासजी उस कृष्ण-ब्रह्म के सखा हों जिससे अग्नि-स्फुलिंगवत आत्मा के रूप में वे कभी पृथक हुए थे। वरन् वे यथार्थ में कृष्ण के सखा हैं जो वल्लभाचार्य के रूप में उनके समक्ष अवतीर्ण हुए हैं और वल्लभाचार्यजी के पुत्र भी कृष्ण ही हैं और उनकी समस्त लीलाएँ कृष्ण-लीलाएँ ही हैं और उनको देख सकती हैं सूर की आँखें ही। इस दृष्टि ने यथार्थ को कृष्ण और कृष्ण को यथार्थ बना दिया है जिससे काव्य के रूप और आत्मा दोनों में अद्वैत और तादात्म्य स्थापित हो गया है। ऐसे तादात्म्य की उपलब्धि सूर के अतिरिक्त और किसी कवि में पूर्णता के साथ नहीं मिलती। मीराबाई में मिलती है पर वह एक पक्षीय है। ब्रजभाषा, ब्रजभूमि कृष्ण और गोपी ये सभी जिस रूप में सूर में प्रस्तुत हुए हैं सम्प्रदाय की देन है। इन सभी के कारण सूर के काव्य को काव्यत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि सम्प्रदाय वात्सल्य और शृंगार के माध्यम से प्रेमाभक्ति का पोषक है। इसलिए सूर में हमको वात्सल्य और शृंगार के वे उत्कृष्ट दर्शन मिलते हैं जिनसे श्रेष्ठ दर्शनों की हम कल्पना कर ही नहीं सकते। सूरदासजी का काव्य सम्प्रदाय के लिए एक और दृष्टि से भी ऋणी है। वह दृष्टि यह है कि साम्प्रदायिक अनुष्ठान के वशवर्ती उन्हें अपने इष्टदेव का नियमित रूप से विविध अवसरों पर साक्षात्कार करना होता था और उनके कीर्तन में अपनी अनुभूति को स्वर प्रदान करना होता था। सूर के प्रत्येक पद में ऐसे कवि की अनुभूति साकार खड़ी हो गयी है और उस कवि की अनुभूति खड़ी हुई है जो उनका अंतरंग सखा है जो उनके दर्शनों का आनन्द और लीलाओं का आस्वाद प्राप्त कर रहा है। किन्तु नहीं सूर इससे भी आगे चले जाने की धृष्टता दिखाते हैं। वे जैसे ठाकुर और ठकुरानी में समा गये हैं और जैसे स्वयं ठाकुर और ठकुरानी ही अपनी बात सूर के मुख से कहलाने लगे हैं। ये ठाकुर और ठकुरानी जो कि साकार कृष्ण रूप में ब्रह्म हैं, या इस साकार तत्त्व को दिव्य बहारसमय किए हुए हैं। सूर में यह स्थिति जितनी सहज और दिव्य रूप में उद्भासित हुई है उतनी किसी अन्य में नहीं दिखलायी पड़ती।

सार्वजनीन सामान्य तत्त्व—

यहाँ तक हमने सूर के काव्य में जिन सौन्दर्य किरणों के दर्शन
हुए हैं उनका मूल स्वरूप भारतीय ताने-बाने से बना हुआ है।
किन्तु सूर का काव्य भारतीय मानस को पूर्ण सन्तोष देते हुए
सार्वजनीन स्तर पर भी पहुँच जाता है। कारण स्पष्ट है कि
सूर ने यथार्थ का पल्ला पकड़ कर पकड़ लिया है। सूर के कृष्ण
वास्तविक बालक हैं। कृष्ण की माता वास्तविक माता हैं। समस्त
पात्र वास्तविक हैं पूर्णत वास्तविक, मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के
साथ। इसलिए यदि एक क्षण के लिए यह भूल जाया जाय कि
कृष्ण कृष्ण हैं और केवल इतना मात्र समझा जाय कि वे एक
सामान्य घर में पैदा होने वाले बालक हैं अथवा एक नटखट
किशोर हैं तो सूर के काव्य को कोई आघात नहीं पहुँचता। इस
सामान्य स्तर की उपलब्धि के कारण ही हमें सूर में वास-
मनोविज्ञान प्रेम-मनोविज्ञान के ऐसे दर्शन होते हैं जो यथार्थ चित्रण में
भी रससेपरिपूर्ण हैं क्योंकि कवि ने यथार्थ के तन्तुओं में मधुर सम्बन्धों
की व्यंजना भाषा का शक्ति के साथ भर दी है। इस कारण
सूर के काव्य में एक सहज सौन्दर्य और एक सहज आनन्द चाहे
जिस पाठक का प्राप्त होता है।

सार्वजनीन मानव की प्रातिभ अभिव्यक्ति—

यथार्थ के तन्तुओं को रस और सुघरता से संयुक्त करके
कवि ने अपने काव्य को जो सार्वजनीन स्तर प्रदान किया है वह
तो श्लाघनीय है ही किन्तु उसके साथ ही जिस विशिष्ट प्रतिभा
का सार्वजनीन रूप उन्होंने गूँथा है वह तो और भी अभिनन्दनीय
है। उस यथार्थ को प्रातिभ रूप देने के लिए कवि ने जिन
साधनों का प्रयोग किया है, वे हैं—अनुभूति के यथार्थ को बौद्धिक
माध्यम से संयुक्त करके दोनों के वैषम्य में से सार्वजनीन अनुभूति
की विजय की घोषणा। सार्वजनीन अनुभूति के यथार्थ चित्रण को
रसमय रूप कोई भी दे सकता है किन्तु उसके साथ ही बौद्धिक
प्रक्रिया और प्रतिक्रिया को उत्तेजित करके उसका अनुभूति के
आनन्द के समस्त कुण्ठित कर देने की शक्ति और उसमें भी कुछ
की वक्रता मार्दव से युक्त रह जाय ऐसा प्रातिभ स्वरूप महाकवि
सूर ही प्रस्तुत कर सका है। और चाहे जहाँ इसके उदाहरण
सूर के काव्य में मिल सकते हैं। इसी प्रतिभा के परिणाम स्वरूप

उनके काव्य में एक अनोखी विनोदात्मकता आ गयी है। वे बौद्धिक उपादानों से विनोद करते हैं और उन्हें मनोमय कोष तक की वस्तु समझ कर पीछे छोड़ विज्ञान और आनन्दमय कोष तक ऊपर उठते चल जाते हैं जिससे बुद्धि और ज्ञान के उपादान बौने होकर अनुभूति के उस सहृदयशील मूल को देखकर पहले चकित भयभीत होते हैं और फिर उस मूल से संवेदनशील आश्वासन पाकर आश्वस्त होता है और आश्वासन के आनन्द पर ही टिक रहते हैं। कृष्ण पर आरोप लगाया गया है कि उसने छींके पर से माखन चुराया है और तब कृष्ण पूरी बौद्धिकता के साथ कहते हैं—

मैं बालक बँहियन को छोटो छींको किहि विधि पायौ ?

यथा—

और भयी गैयन के पाछें मधुवन मोहि पठायौ।

यह बौद्धिक प्रवृत्ति शब्दों में बंध कर रह जाती है और इसमें से कृष्ण दोषी होते हुए भी जिस प्रकार सबके हृदय पर विजय पाते हुए दिखायी पड़ते हैं वह सूर की वाणी से ही ध्वनित हो सकता है। यह सूरदास की सार्वजनीन प्रतिभा का संयोजना सूर को विश्व साहित्य में भी अद्वितीय स्थान दिलाती है। अभी खेद यह है कि उनकी इस प्रतिभा का सम्यक अध्ययन और मनन नहीं हुआ और उसके रूप का अभी तक ठीक नहीं समझा जा सका है।

साहित्य और कला के स्तर की स्वीकृति—

यही वे तत्व हैं जिनकी उपलब्धि के कारण सूर का साहित्य में इतना ऊँचा स्थान माना गया है। ऊपर जिन तत्वों का उल्लेख हुआ है ये भी साहित्य के आन्तरिक उपादानों में सम्मिलित होंगे। किसी भी काव्य की महत्ता और उसकी श्री बिना ऊपर के तत्वों के नहीं समझी जा सकती। किन्तु अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अनुभूति को सौष्ठव और सम्प्रेषणीयता प्रदान करने वाले तत्वों का अध्ययन भी आवश्यक होता है। सूर के काव्य में इन तत्वों का जो रूप मिलता है वह बहुत ही ऊँचे स्तर का है। इन अभिव्यक्ति के उपादानों में निश्चय ही भिन्न भिन्न स्तर होते हैं जिनमें सबसे निचला स्तर यह होता है जिस पर सदोष शब्दाडम्बर होता है। किन्तु एक प्रतिभावान महाकवि अभिव्यक्ति के इन उपादानों को उस स्तर

प्रस्तुत कर सकता है जिस पर प्रत्येक अक्षर और उसका प्रत्येक स्वर, उनसे निकलने वाली ध्वनि उससे प्रस्तुत होने वाले चित्र, उनमें व्याप्त मनोस्थिति उनके प्राण और उनका अध्यात्म सभी एक इकाई बन कर प्रस्तुत हों, साहित्यिक सुषमा से जगमगा रहे हों।

साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हमें विदित होता है कि सूर शब्द संयोजना और अलंकारों के द्वारा भव्य मनोचित्र उपस्थित कर देते हैं और उसमें गति और प्राण भरते हुए रस स्पर्श के द्वारा अध्यात्म की ध्वनि भी प्रतिष्ठित कर देते हैं। उनका भाषा पर प्रबल अधिकार प्रतीत होता है। सुन्दर से सुन्दर उपयुक्त से उपयुक्त शब्दों का प्रत्येक स्थल पर उपयोग हुआ है और वे प्रसादमय तो सर्वत्र ही हैं स्थान-स्थान पर सौष्ठव और शक्ति के अनुसार ओज और माधुर्य से भी अन्वित मिलते हैं। साकार के उपासक होने के कारण कवि का ध्यान रूप-सौन्दर्य के चित्रण में भी खूब रमता है। आदि के अन्त तक इस रूप-वर्णन में हमें जो आकार प्रकार की विविधताओं के साथ वेश-विन्यास की चमक-दमक विविध रंगों का रंजन और भगिमाओं का बांकपन मिलता है वह सब शब्दों की अपनी छटा के साथ जैसे रूप-सौन्दर्य स्वय ही मुखर हो उठता है और इस सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त शब्दालंकार और अर्थालंकार सचमुच ही काव्य शरीर पर देदीप्यमान आभूषण के समान दिखलायी पड़ते हैं। यह कला-सौष्ठव अद्वितीय है। एक ओर शरीर शोभा का सौन्दर्य है, उसका नख शिख है, उसका तीखापन और बांकापन है उस पर सुशोभित वस्त्र और आभूषण की छवि है। इस अत्यन्त शोभाशाली शरीर पिंड के साथ लीलाएं मुद्राएं और भगिमाएं हैं। इनमें से झलकने वाला कोई भाव सौन्दर्य है और इन सबके साथ कवि के मूर्त आलम्बन के साकार सौन्दर्य शाली स्वरूप के साथ भाषा के सशक्त सुगठन से खड़ा होता है काव्य का आकार, उसकी काया, जिसमें विदग्ध भंगी भणिति से एक विलक्षण तीखापन और बांकपन छिटकता है और इस काव्य-शरीर पर भी अलंकार जगमगाते दिखायी पड़ते हैं। कृष्ण के रूप का और काव्य के रूप का अपनी पूर्ण सौन्दर्य श्री के साथ ऐसा संयोजन अद्भुत है। और प्रत्येक रूप वर्णन में यह अन्विति परिलक्षित होती दिखायी पड़ सकती है, कभी-कभी तो वर्ण्य और अवर्ण्य का एसा अद्भुत गुंफन हो जाता है कि सन्देहा लंकार खड़ा होकर मानस में भी सन्देहभाव उत्पन्न करते-करते

किसी मनचीते के सौन्दर्य पर उस समस्त सन्देह को वारकर मुग्ध होने का आनन्द भी उपलब्ध करता है। यह पद दृष्टव्य है।

आजु सखी अरुणोदय मेरे नैनमु को धोख भयो
की हरि आजु पंथ इहि गवने स्याम घठद की उनयो
की बगपांति मांति, उर पर की मुकुत माल बहु मोल
कीधों मोर मुदित नाचत, की बरह मुकुट की डोल
की घनघोर गंभीर प्रात उठि, की ग्वालिनि की टेरनि
की दामिनि कौंधति चहुँदिसि की सुभग पीत पट फेरनि
की बनमाल लाल-उर राजति, की सुरपति धनु चारु
सूरदास प्रभु रस भरि उमँगी, राधा कहति विचारु
(ना० प्र० २०५८ । २६७६)

राधा के मन में कृष्ण छाये हुए हैं। प्रात उठते ही उसे प्रकृति के उपादानों में मन में रमे हुए स्याम की शोभा झलकती प्रतीत होती है। प्रकृति में कृष्ण नामक का एसा आरोप-चित्र सौन्दर्य अध्यात्म का संगम तो प्रस्तुत करता ही है साहित्यिक स्तर पर सन्देह-अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरण के साथ शृंगार रस के पोषण में अद्भुत रूप से उपयोगी बन जाता है। राधा आश्रय है, कृष्ण आलम्बन है, प्रकृति उद्दीपन है। आलम्बन और उद्दीपन एकमेक होकर ऐसे उपस्थित हुए कि कवि को कहना पड़ा —

'सूरदास प्रभु रसभरि उमँगी राधा कहति विचार'।

रूप-सौन्दय, भाषा-सौन्दर्य अलंकार-सौन्दर्य भाव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दय को एक साथ गुंफित करके कवि ने उन्हें आध्यात्मिक सौन्दर्य से अभिमंडित कर दिया है। इस प्रकार सूर की काव्य-वाणी में पद-पद पर साहित्यिक स्तर की स्वीकृति मिलती है और इसमें साहित्य शास्त्र द्वारा अनुमोदित सभी सुन्दर और सशक्त तत्व अपनी पूर्ण विविधता के साथ जहाँ-जहाँ बिखरे हुए हैं और प्रत्येक पद में इनका कोई न कोई रूप देखा जा सकता है। इन समस्त तत्व की संयोजना में सूर की प्रतिभा से अद्भुत कला का रूप अप्रतिहत खड़ा होता है।

मानवीय अध्यात्म की अनुभूति—

सूर के काव्य में सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि उसमें उन्होंने मानवीय अध्यात्म की अनुभूति प्रस्तुत की है। काव्य, अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है और वस्तुतः वह एक ही अनुभूति होती है जो अभिव्यक्ति के उपादानों की असमपता के कारण वैविध्य और विस्तार ग्रहण करता है। कवि की प्रतिभा के अनुकूल इस अनुभूति के स्वर हो जाते हैं। कोई कवि रूप की अनुभूति से ही अनुप्राणित रहता है। कोई रूप के सौन्दर्य की अनुभूति से, कोई रूप के साथ मुद्राओं की अन्विति में अनुभूति प्राप्त करता है कोई मति की अनुभूति से अनुप्रेरित होता है कोई मानव की व्यवहार-कथा के सौष्ठव की अनुभूति से प्रेरित होता है, कोई इसके आधार के अन्तर्निहित सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त करता है तो कोई मानव की मानवता तक अपनी पहुँच प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुभूतियों के प्रकार और स्तर प्रस्तुत होते हैं। हमें विदित होता है कि सूर के कवि ने मानव के अध्यात्म से अनुभूति प्राप्त की है। साम्प्रदायिक अध्यात्म तो विविध सीमाओं में आबद्ध रहता है। किन्तु मानवीय अध्यात्म शुद्ध रूप से मानव के अपने सहज स्वरूप के अनुरूप उसकी उन्मुक्ति की महद् भावना प्रस्तुत करता है। मानव के अध्यात्म की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि हम पुष्टिमार्ग की दृष्टि से यह मानें कि कृष्ण ब्रह्म हैं और मनुष्य उससे उद्भूत आत्माएँ हैं कि यह मानें आत्माएँ कृष्ण ब्रह्म के साथ लीला का आनन्द ग्रहण करना चाहती हैं और उसके लिए वे गोपीभाव से अपना समर्पण कृष्ण को करती हैं, यह भी आवश्यक नहीं कि इस समर्पण के लिए गुरु की ही शरण जाया जाय। सूर के काव्य में तो 'सूर' ही उस गुरु का स्थान ग्रहण कर लेते हैं जो मानव के आन्तरिक निर्माण में प्रस्तुत बंधनों से मुक्ति के मार्ग की ओर अपने काव्य के प्रभाव के द्वारा अग्रसर करता है और अन्त में उसे शुद्ध मानव रूप में अध्यात्म भाव से अनुप्राणित कर मानवीय अध्यात्म के आनन्द में ही मुग्ध, मग्न और मुक्त छोड़ देता है। मानव के निर्माण में कितने तत्व और कितनी जटिलताएँ हैं जिनसे मुक्ति पाने के लिए वह छटपटाता है। उन्हीं जटिलताओं के कारण वह संसार से मुक्ति पाने के लिए विविध मार्गों की उद्भावना करता है। वस्तुतः संसार जटिल नहीं है,

संसार में उसके जटिल व्यक्तित्व का जो विस्तार है वही जटिल है और मनुष्य का यह व्यक्तित्व जटिल है मनुष्य को शिव और काम विषयक संघर्ष भावना के कारण। शिव और काम का जो संघर्ष मनुष्य को कमरत करता है और व्यग्र करता है वह शिवत्व की विजय चाहता है पर वह समझ नहीं पाता कि काम की स्थिति को किस प्रकार समाप्त किया जाय। उसकी कल्पना में शिव के तीसरे नेत्र की वह्नि से काम जल जाता है पर जल करके भी वह फिर सजीव हो उठता है। सूर के काव्य में मानव के इस काम को पूर्णातिपूर्ण महत्व प्रदान किया गया है और उस समस्त महत्व को लेकर यह काम सूर के द्वारा खड़े किये गये शिवत्व के समक्ष कांप कर, भयभीत होकर एक ओर खड़ा हो जाता है और इस प्रकार काम विजय पूर्ण होती है शिवत्व चमकता है और मानवीय अध्यात्म का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। कवि को यह अनुभूति हुई कि काम विजयी द्वैत भावना के कारण होता है और द्वैत भावना की उपस्थिति में शिवत्व पिछड़ा रहता है अथवा परास्त रहता है। अत इस काम को कोसने के लिए अद्वैत की स्थिति अनिवार्य है। किन्तु यह अद्वैत कौनसा अद्वैत होगा। क्या शास्त्रीय अध्यात्म से परिपोषित आत्मा और परमात्मा का अद्वैत होगा ? यह अद्वैत काम से हार कर खोजा हुआ अद्वैत है। अथवा काम की उपेक्षा का अद्वैत है। जब तक मानव अपनी पूर्णता के साथ विद्यमान है शरीर मन और बुद्धि के तत्वों से युक्त होकर तब तक वह इनमें से किसी भी तत्व की अवहेलना नहीं कर सकता और दमन भी यथार्थ विजय का द्योतक नहीं माना जा सकता क्योंकि यह भी एक अस्वाभाविक स्थिति है जिससे मानव के शिवत्व की विजय एक अत्याचार के बल पर टिकी हुई दिखायी पड़ती है और इस स्थिति में मानव कभी अपने आप का मुक्त नहीं अनुभव कर सकता। अत सूर ने समस्त मानवीय निर्माण के तत्वों का समादर किया। उन्हें सत्य समझा और इसलिए उन्होंने कहा कि इस सगुण स्थिति में जो द्वैत है वह द्वैत आत्मा परमात्मा का नहीं वह स्त्री-पुरुष का है। साम्प्रदायिक स्तर पर और दार्शनिक स्तर पर भी इस द्वैत की व्याख्या की गयी है। राधा-कृष्ण, सीताराम, लक्ष्मी-विष्णु शिव-शक्ति इसी द्वैत के प्रतीक हैं और दार्शनिक स्तर पर पुरुष और प्रकृति के द्वारा यह द्वैत प्रकट किया जाता है। किन्तु जगत को मिथ्या मानने वाले सूर इस

जगत में ही उस द्वैत को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं। उनका दार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अखंड सत्य को भी समझे हुए है कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर पर शिव और शक्ति में अभेद है, इसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री पुरुष में अद्वैत है और जब वह स्थिति काव्य के रसमय उपादानों से ब्रह्मानन्द सहोदर की भाँति उपलब्ध होती है तो वहाँ पर भी वह अद्वैत प्रस्तुत हो जाता है। द्वैत जन्य काम मूर्छित ही रहता है और आनन्द का आस्वाद समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धि को, आवृत और आक्रान्त कर देता है और काव्य के द्वारा जब वह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काव्य के माध्यम से ही मानवीय अध्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरत, यथार्थत सहज उन्मुक्ति की आनन्दावस्था का उपभोग कर सकता है। काम के द्वैत में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव जागृत होता है। यह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और उस सुख से वंचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो मूल शोभा और सौन्दर्य के देह और देही दोनो के मिल जाने से प्राप्त हो सकता है। सूर ने शोभा और सौन्दर्य का समुद्र लहरा दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान में पूर्ण शोभा और श्री से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्थिति में वह सौन्दर्य खड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सखियों के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के मन का सौन्दर्य ! सौन्दर्य और आकर्षण से बिखरी हुई इन अन्य वीथिकाओं में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पनपाता है और उस आकर्षण और सौन्दर्य के वैविध्यपूर्ण पुञ्ज में से एक स्त्री रूप उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सूर की अनुभूति का केन्द्र इन स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य की सौन्दर्य-लिप्सु समस्त इच्छाएं एक दूसरे से परास्त हो जाती हैं तब कवि यों कह उठता है—

जगत में ही उस द्वैत को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं। उनका दार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अखंड सत्य को भी समझे हुए है कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर पर शिव और शक्ति में अभेद है, इसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री-पुरुष में अद्वैत है और जब वह स्थिति काव्य के रसमय उपादानों से ब्रह्मानन्द सहोदर की भाँति उपलब्ध होती है तो वहाँ पर भी वह अद्वैत प्रस्तुत हो जाता है। द्वैत जय काम मूर्छित ही रहता है और आनन्द का आस्वाद समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धि को, आवृत और आक्रान्त कर देता है और काव्य के द्वारा जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काव्य के माध्यम से ही मानवीय अध्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरत, यथार्थत: सहज उन्मुक्ति की आनन्दावस्था का उपयोग कर सकता है। काम के द्वैत में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव जागृत होता है। वह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और उस सुख से वंचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो सुख शोभा और सौन्दर्य के देह और देही दोनों के मिल जाने से प्राप्त हो सकता है। सूर ने शोभा और सौन्दर्य का समुद्र लहरा दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान में, पूर्ण शोभा और श्री से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्थिति में, वह सौन्दर्य खड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सखियों के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के मन का सौन्दर्य ! सौन्दर्य और आकर्षण से बिखरी हुई इन अन्य वीथिकाओं में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पनपाता है और उस आकर्षण और सौन्दर्य के वैविध्यपूर्ण पुंज में से एक स्त्री रूप उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सूर की अनुभूति का केन्द्र इन स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य की सौन्दर्य लिप्सु समस्त इच्छाएँ एक दूसरे से परास्त हो जाती हैं तब कवि यों कह उठता है—

बिहरि अंग अंग मेटि राधा
यह कहति किति कि शोभा करेंग स्याम,
येहि हों मानु मनु सबहि साधा
उतहि हरि रूप की रासि नहि पार कहुँ
दुहुनि मनु परस्पर होड़ कीन्हीं

(२१२८, २०५१)

और यहां स्त्री और पुरुष दोनों के अपने-अपने उत्कृष्ट तत्व परस्पर होड़ से मानव के मन को मथते हुए प्रस्तुत होते हैं और काम-भाव का जो अन्तिम स्वरूप है—रति संग्राम—उसमें जुट जाते हैं और यहां पर दोनों, सौन्दर्य शरीर का अद्वैत का समस्त द्वैत समाप्त हो जाता है और वह आनन्दमय स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसकी अनुभूति मानव के द्वैत आस्तित्व को आच्छादित कर लेती है। इस स्थिति को सूर ने सम्भवत 'मनसा' नाम दिया है और कहा—

मैन मनसा बस परयौ मिटि पल चाल तुरग

(२१११ २७४६)

और इस मनसा की अद्वैतता को आगे कवि ने इस रूप में प्रकट किया है—

प्रेम हित के क्षीर सागर, भई मनसा एक।

(२११२ २७५०)

इस मनसा की स्थिति में मानव की अनुभूति जब कवि के काव्य के साथ पहुँच जाती है तो काम रिपु समाप्त हो जाता है—

सूर कहै ये उभय सुभट मिल
मर्यो जु बसै रिपु कामहि।

(२११० २७४८)

मानवीय अध्यात्म के शिव का दर्शन यहां हो लेता है और तब इसी आनन्द की उपलब्धि का पोषण उन समस्त पदों में आगे होता है जो विरह के पद कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि कवि की अनुभूति ने काव्य को ही वह माध्यम बना दिया है जिससे उसे उस मनसा की अनुभूति हो उठे जिस मनसा में कि यह मानवीय द्वैत समाप्त हो जाता है और मानव का

जगत में ही उस द्वैत को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं। इनका दार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अखंड सत्य को भी समझे हुए है कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर पर शिव और शक्ति में अभेद है, इसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री-पुरुष में अद्वैत है और जब वह स्थिति काव्य के रसमय उपादानों से ब्रह्मानन्द सहोदर की भाँति उपलब्ध होती है तो वहाँ पर भी वह अद्वैत प्रस्तुत हो जाता है। द्वैत जन्य काम भूषित ही रहता है और आनन्द का आस्वाद समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धि को, आवृत और आक्रान्त कर देता है और काव्य के द्वारा जब वह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काव्य के माध्यम से ही मानवीय अध्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरत, यथार्थत: सहज उन्मुक्ति की आनन्दावस्था का उपभोग कर सकता है। काम के द्वैत में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव जागृत होता है। वह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और उस सुख से वंचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो सुख शोभा और सौन्दर्य के देह और देही दोनों के मिल जाने से प्राप्त हो सकता है। सूर ने शोभा और सौन्दर्य का समुद्र लहरा दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान में पूर्ण शोभा और श्री से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्थिति में वह सौन्दर्य खड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सखियों के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के मन का सौन्दर्य ! सौन्दर्य और आकर्षण से बिखरी हुई इन अन्य वीथिकाओं में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पनपाता है और उस आकर्षण और सौन्दर्य के वैविध्यपूर्ण पुंज में से एक स्त्री रूप उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सूर की अनुभूति का केन्द्र इस स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य की सौन्दर्य लिप्सु समस्त इच्छाएं एक दूसरे से परास्त हो जाती हैं तब कवि यों कह उठता है—

निदरि मम अंग लेति राधा
मह कहति किंतिक शोभा करेंगे स्याम,
येहि हौं भानु मनु सबहि साधा
उतहि हरि रूप की राशि नहि पार कहूँ
दुहुनि मनु परस्पर होड कीन्ही

(२१२८, २७४१)

और यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों के अपने अपने उत्कृष्ट तत्व परस्पर होड से मानव के मन को मथते हुए प्रस्तुत होते हैं और काम-भाव का जो अन्तिम स्वरूप है—रति संग्राम—उसमें जुट जाते हैं और यहाँ पर शोभा, सौन्दर्य, शरीर का अद्वैत का समस्त द्वैत समाप्त हो जाता है और वह आनन्दमय स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसकी अनुभूति मानव के द्वैत अस्तित्व को आच्छादित कर लेती है। इस स्थिति को सूर ने सम्भवत 'मनसा' नाम दिया है और कहा—

मैन मनसा बस परयौ मिटि गए काम गुरम

(२१११, २७४६)

और इस मनसा की महत्ता को आगे कवि ने इस रूप में प्रकट किया है—

प्रेम हित के छीर सागर, भई मनसा एक।

(२११२, २७५०)

इस मनसा की स्थिति में मानव की अनुभूति जब कवि के काव्य के साथ पहुँच जाती है तो काम रिपु समाप्त हो जाता है—

सूर कहै ये उभय सुभट मिल
क्यों नु बसै रिपु कामहि।

(२११०, २७४८)

मानवीय अध्यात्म के शिव का दर्शन यहाँ हो लेता है और तब इसी आनन्द की उपलब्धि का पोषण उन समस्त पदों में आगे होता है जो विरह के पद कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की अनुभूति ने काव्य को ही वह माध्यम बना दिया है जिससे उसे उस मनसा की अनुभूति हो उठे जिस मनसा

अध्यात्म निखर उठता है। योगी और ज्ञानवादी, को जिस प्रकार साधना की आवश्यकता है, सूर के इस मानवीय अध्यात्म की उपलब्धि के लिए सूर के काव्य के समस्त तत्व से हृदय के अभिषिक्त होने की आवश्यकता है और तब सूर के प्रत्येक पद में हमें इस मानवीय अध्यात्म के सुकर दर्शन हो सकते हैं, जिससे उनका काव्य वस्तुत काव्य बना है क्योंकि मूल रूप में मानव स्वयं एक काव्य ही है। सूर का सागर इसलिए भी सागर है कि उसका आदि से अन्त तक यह अद्वत और एकत्व अखण्ड रहता है जबकि उसके गर्भ में सीप, घोंघे, मकर, मछली जाने क्या-क्या है और उसकी सतह पर न जाने कितनी चंचल तरंगें हैं—ऊंची

में इस सागर का सौन्दर्य किसी न किसी